र्वोदय संयोजन

अ. भा. सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

यह समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका ढाँचा एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक जैसे घेरे की (वर्तुल की) शकल में होगा। जीवन मीनार की शकल में नहीं होगा, जहाँ ऊपर की संकुचित चोटी नीचे के चौड़े पाये पर भार डालकर खड़ा रहे, वहाँ तो जीवन समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद एक घेरे की शकल में होगा, जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा। व्यक्ति गाँव के लिए और गाँव ग्रामसमूह के लिए मरमिटने को हमेशा तैयार रहेगा। इस तरह अंत में सारा समाज ऐसे व्यक्तियों का बन जायगा, जो अहंकार में आकर कभी किसी पर हावी नहीं होंगे, बल्कि सदा विनीत रहेंगे और उस समुद्र के गौरव के हिस्सेदार बनेंगे, जिसके वे अविभाज्य अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहर का घेरा अपनी शक्ति का उपयोग भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि भीतरवाला सबको ताकत पहुँचायेगा और स्वयं उनसे बल ग्रहण करेगा। युक्लिड की परिभाषा का बिन्दु भले ही मनुष्य खींच न सके, तो भी उसका शाश्वत मूल्य तो है ही। इसी तरह मेरे इस चित्र का भी मानव-जाति के जीवित रहने के लिए अपना मूल्य है। इस तस्वीर के आदर्श तक को पूरी तरह पहुँचना संभव नहीं है, फिर भी भारत की जिन्दगी का वैसा मकसद होना चाहिए। हमें क्या चाहिए, इसका सही चित्र तो हमारे पास होना ही चाहिए, तब तो हम उसके करीब पहुँच पायेंगे। यदि कभी भारत के प्रत्येक गाँव में एक-एक गणतंत्र स्थापित हुआ, तो मेरा दावा है कि मैं इस चित्र की सचाई सिद्ध कर सकूँगा, जिसमें सबसे आखिरी और सबसे पहला, दोनों बराबर होंगे या दूसरे शब्दों में कहें, तो न कोई पहला होगा, न आखिरी।

हरिजन, २८-७-'४६ —गांधीजी

सर्वोदय-संयोजन
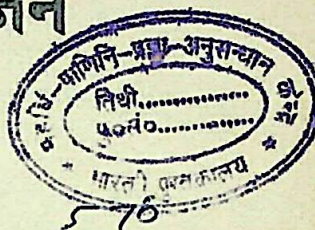
प्रकाशक की ओर से
सस्नेह भेंट

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (बंबई राज्य)

पहली बार : ७०००
अप्रैल, १९५७
मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, वाराणसी

दो शब्द

जब से देश आजाद हुआ है, सब संयोजन के विषय में सोचने लगे हैं। अगर प्रवाह-पतित जीवन से ऊपर उठना है, तो उसका उपाय संयोजन ही है। संयोजन के मानी है, पहले विचारपूर्वक समाज के लिए कुछ लक्ष्य निश्चित करना और फिर आवश्यक साधन जुटाकर मितव्ययता के साथ इनका उपयोग कर जल्दी-से-जल्दी इन लक्ष्यों को प्राप्त करने में भिड़ जाना। इसलिए योजना का स्वरूप और सामर्थ्य उसके लक्ष्यों पर निर्भर करता है।

सबसे पहली बात यह है कि सर्वोदय समाज की वर्तमान रहन-सहन और सारी दृष्टि में क्रान्ति कर देना चाहता है। वह एक नये अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहता है। इसलिए ऐसे समाज का नये सिरे से निर्माण करनेवाली योजना का उसके पास होना जरूरी है। सर्वोदय में विश्वास करनेवालों के सामने अपने लक्ष्य स्पष्ट और सुनिश्चित होने ही चाहिए, और साथ ही इन लक्ष्यों तक समाज को ले जानेवाला कार्यक्रम भी। सन् १९५० में सर्वोदय-योजना-समिति ने इस प्रकार की एक सर्वोदय-योजना के सिद्धान्त प्रकाशित किये थे। उसमें इन लक्ष्यों और कार्यक्रमों को स्पष्ट करने का एक यत्न किया गया है। किन्तु पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं से नये-नये अनुभव हुए हैं। भूदान-यज्ञ की सफलताएँ और सर्वोदय के आदर्श के प्रति बढ़ा हुआ आकर्षण, इन सबको देखकर सर्व-सेवा-संघ अनुभव करता है कि अब सर्वोदय के इन लक्ष्यों और कार्यक्रमों को समाज के सामने पेश करना जरूरी हो गया है। इसलिए ऐसा एक विस्तृत वक्तव्य तैयार करने के लिए उसने एक सर्वोदय-योजना-समिति की नियुक्ति कर ली है। (इस समिति में १. श्री धीरेन्द्र मजूमदार, २. श्री जयप्रकाश नारायण, ३. श्री अण्णा-

साहब सहस्रबुद्धे, ४. श्री र० श्री० धोत्रे, ५. श्री सिद्धराज ढड्ढा, ६. श्री अच्युत पटवर्धन, ७. श्री रवीन्द्र वर्मा, ८. श्री नारायण देसाई, ९. श्री शंकरराव देव हैं । संयोजक श्री शंकरराव देव हैं ।)

इस बीच कांग्रेस-पार्टी और भारत-सरकार ने निश्चय कर लिया कि वे समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं । दूसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य भी यही निश्चित किया गया है । वास्तव में यह समाजवादी समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए ऐसी कई योजनाओं की जरूरत होगी। दूसरी पंचवर्षीय योजना उनमें से पहली है। इसलिए अब सर्वोदय में विश्वास करनेवालों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे देखें कि कांग्रेस और भारत-सरकार जिस समाज की स्थापना करना चाहते हैं, वह कैसा है, उसका अध्ययन करें। साथ ही वे यह भी देखें कि खुद उन्होंने अपने सामने जिस समाज-रचना का चित्र बना रखा और उसकी प्राप्ति के लिए जिन साधनों और संस्थाओं का निर्माण वे करना चाहते हैं, वे कांग्रेस तथा शासन की इस परिलक्षित समाज-रचना से किस हद तक भिन्न या समान हैं। शायद उसका सबसे उत्तम तरीका यह होगा कि सर्वोदय के माननेवाले स्पष्ट रूप से बता दें कि उनके लक्ष्य क्या हैं और इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समाज को किन-किन अवस्थाओं से गुजरना होगा ?

अगले कुछ पृष्ठों में समिति ने यही बताने का यत्न किया है। इसका आशय कोई यह न समझे कि यह वक्तव्य शासन द्वारा तैयार की गयी दूसरी पंचवर्षीय योजना का स्थान ले सकता है, न यह कोई सर्वोदयी योजना की व्यवस्थित रूपरेखा ही है। सच तो यह है कि सर्वोदयी व्यवस्था में किसी ऐसी घड़ी-घड़ाई (साँचे में ढली हुई) योजना के आधार पर जीवन नहीं बनाया जा सकता । सर्वोदय एक विकासशील आदर्श है। उसे अभी किसी ढाँचे में नहीं बैठाया गया है । अगर हम चाहते हैं कि वह एक कट्टर और जड़-पन्थ न बन जाय, बल्कि ऐसी शक्ति का काम दे, जो मानव-मानव के सम्बन्धों और हमारी संस्थाओं के वर्तमान रूप को बदलकर

उन्हें सत्य और अहिंसा से अनुप्राणित करता रहे, यही उचित होगा कि वह इस प्रकार का जड़-पन्थ न बने।

इसलिए सर्वोदयी योजना में कोई ऐसी रेखाकृति देखने का प्रयास न करे। विद्यमान प्रयत्न केवल प्रारूप मात्र है। इसका आशय यही है कि पाठक के सम्मुख सर्वोदय अधिक स्पष्ट रूप से आ जाय। उसे यह विदित हो जाय कि 'सर्वोदय-नियोजन' के आधारभूत सिद्धान्त क्या हों, सर्वोदयी समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए कौन-कौनसे उपाय और कार्यक्रम हो सकते हैं तथा समाज को किन-किन अवस्थाओं में से इसके लिए गुजरना होगा। यह मसविदा हम इस आशय से भी प्रकाशित कर रहे हैं कि सर्वोदय और संयोजन के अध्ययनशील जन इसे पढ़कर हमें अपने सुझाव तथा संशोधन लिख भेजने का कष्ट करें, ताकि इस प्रकार के संशोधन और सुझावों से लाभान्वित होकर आवश्यक सुधार-संशोधन के उपरान्त इस संयोजन को अन्तिम रूप दिया जा सके।

समिति गांधी-विचार-परिषद् और उसके कार्यकर्ताओं के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहती है। उन्होंने जो सहयोग आवश्यक सामग्री एकत्र करने तथा मसविदा तैयार करने में दिया, उसीके फलस्वरूप इतने कम समय में यह पुस्तिका हम प्रकाशित कर पाये हैं।

शंकरराव देव

संयोजक,

सर्वोदय-योजना-समिति

०

प्रास्ताविक

तारीख ३० जनवरी १९५० को "सर्वोदय योजना के सिद्धान्त" पहले-पहल प्रकाशित किये गये थे। इसे पाँच वर्ष से भी अधिक हो गये। इसके बाद बहुत-सी घटनाएँ हो गयीं, जिनके कारण अब जरूरी हो गया है कि सर्वोदय-योजना के इन सिद्धान्तों को एक बार फिर से दोहरा दिया जाय, और उस पुस्तिका में पाँच वर्ष पहले लक्ष्य-सिद्धि के लिए जो कदम बताये गये थे, उन पर हम फिर से विचार कर लें। अगर आवश्यक हो, तो उनमें संशोधन-सुधार भी कर लें। यह सच है कि अनपेक्षित हल्कों से भी उस पुस्तिका में प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्वागत हुआ है। साथ ही यह भी सच है कि उसके प्रकाशन के बाद जो चर्चाएँ और मंथन हुआ, उनसे प्रकट हुआ कि कुछ संस्थाओं और भागों का वर्णन जड़ तक पहुँचकर अधिक गहराई से किया जा सकता था। ऐसे बहुत-से मुद्दे थे, जिनका विवरण अधिक विस्तृत और स्पष्टता के साथ किया जाता, तो अच्छा होता।

सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात, जिसके कारण इन सिद्धान्तों और कार्यक्रमों पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया, है भूदान-यज्ञ और उसकी सहायक प्रवृत्तियाँ। इनके कारण प्रचलित अर्थ-व्यवस्थाओं और सामाजिक सम्बन्धों की बुनियाद की तरफ हमारा ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट और केन्द्रित हुआ है। हम महसूस करने लगे हैं कि शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक तरीकों से इनमें तत्काल परिवर्तन करना क्यों जरूरी है। भूदान-यज्ञ की हलचल ने हमारे सामने इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण पेश कर दिया, यदि प्रमाण की जरूरत रही हो, कि अहिंसात्मक प्रक्रिया द्वारा किस प्रकार समाज की सोयी हुई विवेक-बुद्धि को जाग्रत किया जा सकता है और किस प्रकार बगैर कानून के लिए ठहरे या दंडशक्ति का सहारा लिये, केवल

लोकमत के सुसंगठित प्रकाशन मात्र से समाज के अन्दर बुनियादी फेर-बदल किये जा सकते हैं।

इन पाँच वर्षों में एक बात और हो गयी। सरकार के हेतु और उसकी नीतियों के परिणाम भी भली प्रकार प्रकट हो गये। सर्वोदय-योजना के सिद्धान्तों के प्रकाशन के कुछ ही महीने बाद पहली पंचवर्षीय योजना बनायी गयी और उसका अमल शुरू हुआ था। इसके पाँच वर्ष भी पूरे हो चुके और उसमें उत्पादन के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, वे भी बहुत कुछ प्राप्त किये जा चुके हैं। अब योजना-आयोग और शासन पहली पंचवर्षीय योजना द्वारा कितनी प्रगति हुई, इसकी जाँच करने तथा दूसरी पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप देने में लगे हुए हैं।

दूसरी पंचवर्षीय योजना का मसविदा तैयार है। योजना-आयोग और उसकी विभिन्न समितियों ने उसे मंजूर कर लिया है। अब वह संसद् के विचारार्थ पेश है। पहली योजना में कुछ झिझक दिखाई देती है और उसमें मिश्र अर्थ-व्यवस्था का प्रतिपादन है। दूसरी योजना अधिक स्पष्टता और सीधे-सच्चे ढंग से अपने लक्ष्य पेश करती है। रूप-रंग भी साफ है।

पहली पंचवर्षीय योजना का मुख्य हेतु यह नहीं था कि वह किसी खास आदर्श के आधार पर समाज की अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करे, बल्कि यह था कि वह देश की साधन-संपत्ति का पता लगाकर देश की अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाये, ताकि भविष्य में अधिक तेजी के साथ आगे बढ़ा जा सके। दूसरी पंचवर्षीय योजना स्पष्ट रूप से घोषित कर रही है कि उसका "मुख्य उद्देश्य देश में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था कायम करना है। इसके लिए वह सबसे पहले यह चाहती है कि—(अ) राष्ट्रीय आय में अच्छी वृद्धि हो, जिससे देश के निवासियों की रहन-सहन कुछ ऊँची उठ सके। (आ) तेजी से औद्योगीकरण हो। इसमें विशेष भार भारी तथा बुनियादी उद्योगों पर रहेगा। (इ) बड़ी संख्या में बेकारों को रोजी के साधन देना। (ई) संपत्ति और आयसम्बन्धी विषमताओं को कम करना और अर्थशक्ति का अधिक समान बँटवारा करना।"

योजना की दलील है कि "जब तक उत्पादन नहीं बढ़ेगा, उद्योगों में काफी धन नहीं लगाया जायगा, तब तक राष्ट्र की आय न बढ़ेगी। इसी प्रकार औद्योगीकरण के बगैर विकास असंभव है। फिर औद्योगिक विकास भी तभी संभव होगा, जब पहले भारी-भारी और बुनियादी उद्योगों को प्राथमिकता दी जायगी। क्योंकि इनकी मदद से राष्ट्र को वे सब विविध प्रकार के यन्त्र उपलब्ध हो जायँगे, जो जनता की जरूरत की चीजें बनाने के लिए आवश्यक हैं। किन्तु जब तक यह सब यंत्र-सामग्री उपलब्ध नहीं हो जाती, देश को अपनी दैनिक जरूरत की चीजों के लिए ग्रामोद्योगों पर ही मुख्यतया निर्भर रहना होगा। क्योंकि इनके लिए बहुत अधिक लागत-धन पूंजी की जरूरत नहीं होती और फिर भी इनमें बहुत अधिक मनुष्यों को रोजगार दिया जा सकता है। इस प्रकार तेजी से औद्योगीकरण द्वारा ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों के विकास तथा विविध प्रकार के निर्माण-कार्यों द्वारा अनुमान किया गया है कि एक करोड़ और अधिक मनुष्यों को काम दिया जा सकेगा।"

उपर्युक्त कथन से अब किसीके दिल में सन्देह न रहना चाहिए कि शासन निश्चय कर चुका है कि देश में वह किस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कायम करना चाहता है। वह ऐसी समाजवादी व्यवस्था होगी, जिसके अन्दर तेजी से औद्योगीकरण होगा, भारी-भारी उद्योगों को प्राथमिकता और प्रधानता दी जायगी और बीच के संक्रमण-काल में मदद के तौर पर ग्रामोद्योगों का उपयोग कर लिया जायगा। इसलिए सर्वोदयी समाज-व्यवस्था की स्थापना करने की इच्छा रखनेवालों के लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि वे भी देश के सामने सर्वोदयी समाज-रचना तथा अर्थ-व्यवस्था कैसी होगी, इसकी रूपरेखा पेश कर दें और उस तक पहुँचने के लिए क्या-क्या कदम उठाने होंगे, यह भी बता दें।

एक बात और है। यदि क्रमिक रूप से विकेन्द्रीकरण की ओर ठोस और उद्देश्यपूर्ण कदम बढ़ाने की नीति न अपनायी गयी, तो दूसरी पंच-वर्षीय योजना में जिस विशाल और भारी औद्योगीकरण का जिक्र है,

उससे हमारे देश में एक नयी चीज का—सत्ता और अर्थ के घने केन्द्रीकरण का—सूत्रपात हो जायगा। समाजवाद के माननेवालों में एक दल ऐसा भी है, जो न केवल यह मानता है कि समाजवाद और केन्द्रीकरण साथ-साथ रह सकते हैं, वल्कि वह मानता है कि समाजवाद को सफल वनाने के लिए केन्द्रीकरण आवश्यक भी है। परन्तु सर्वोदय में सत्ता के ऐसे अधिकाधिक केन्द्रीकरण के लिए—चाहे वह राज्य के हाथों में ही हो—स्थान नहीं है। वह सत्ता के और उत्पादन तथा वितरण के साधनों के विकेन्द्रीकरण में विश्वास करता है। वह जिस उद्योग-पद्धति की कल्पना करता है, उसके अन्दर जरूरत के लायक उत्पादन होगा और सवके लिए रोजगार होगा। सर्वोदय में मुट्ठीभर उद्योग-संचालकों अथवा राज्य के इने-गिने नौकरों के हाथों में स्वामित्व और सत्ता केन्द्रित नहीं होगी। सर्वोदय मानता है कि जव तक प्रत्येक मनुष्य के लिए रोजगार का प्रवन्ध नहीं हो जायगा, केवल राष्ट्र की आय के वढ़ जाने मात्र से व्यक्तियों की आय अपने-आप नहीं वढ़ जायगी। देश में अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण को वह उचित नहीं मानता। इससे तो मुट्ठीभर लोगों के हाथों में सर्वसाधारण पर सत्ता चलाने का अधिकार मात्र आ जायगा। वह चाहता है कि सर्वसाधारण के हितार्थ उद्योगों की पद्धति में ही क्रान्ति करने की जरूरत है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा है कि सर्वसाधारण को जरूरत की चीजें मुहैया करने में ग्रामोद्योग महत्त्वपूर्ण भाग अदा करें। इसके लिए वह महसूस करती है कि उत्पादन का एक सुव्यवस्थित कार्यक्रम भी वना लिया जाना चाहिए। इन ग्रामोद्योगों के उत्पादन की पद्धतियों एवं औजारों में सुधार करने के लिए तथा ग्रामोद्योगों और छोटे उद्योगों द्वारा उत्पादन को संगठित करने के लिए उसके अन्दर दो अरव रुपये मंजूर किये गये हैं। परन्तु यह कोई विशेष वात नहीं है। पहली पंचवर्षीय योजना में उत्पादन वढ़ाने का जो कार्यक्रम वनाया गया था, उसका यह विस्तार मात्र है। इस कथन के महत्त्व को ठीक तरह से समझने और

मूल्यांकन करने के लिए पिछले योजना-काल में सामान्यतया उत्पादन को बढ़ाने के लिए अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड तथा अन्य बोर्डों को जो सहूलियतें दी गयी थीं और उनको जो अनुभव हुए थे, उसीको आधार मानना होगा।

इन बोर्डों की स्थापना और उनको मिले अनुभ ों से कुछ-कुछ यह भी पता लगता है कि खादी और ग्रामोद्योगों तथा ऐसी ही अन्य प्रवृत्तियों के लिए योजना-आयोग और शासन के दिल में कितनी गुंजाइश है। अखिल भारत खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना को तीन वर्ष हो चुके हैं। इसी प्रकार हाथ-करघा बोर्ड, नारियल-तन्तु बोर्ड, केन्द्रीय तिलहन कमेटी, दस्तकारी बोर्ड, रेशम बोर्ड आदि भी करीब-करीब इतने ही समय से काम कर रहे हैं। इनके कामों की पद्धतियों में कई दोष हैं। जैसे एक ही काम दो-दो संस्थाओं को दे दिया गया है अथवा दो संस्थाओं के बीच काम का बँटवारा इस प्रकार कर दिया गया है कि वे आपस में टकराती हैं और परिणाम कुछ नहीं निकल पाता। उदाहरणार्थ, अखिल भारत खादी ग्रामोद्योग बोर्ड का घानी-विभाग और केन्द्रीय तिलहन कमेटी का काम लगभग एक-सा ही है। इसी प्रकार हाथ-करघा बोर्ड और अखिल भारत खादी बोर्ड के कामों में कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों को हाथ-करघों और बुनकरों—रेशम के बुनकरों—का भी विचार करना होता है।

परन्तु इस प्रकार एक काम के लिए दो-दो संस्थाओं का स्थापन और उनके बीच आवश्यक सहयोग का न होना, केवल यही कठिनाई नहीं है। असली और मुख्य कठिनाई तो यह है कि इनके पीछे कोई निश्चित नीति नहीं है। इधर रेशम बोर्ड की स्थापना कर दी गयी है और दूसरी तरफ रेशम के नये-नये कारखाने खोलने दिये जा रहे हैं। एक तरफ चावल की हाथ-कुटाई के उद्योग की जाँच करने के लिए एक कमेटी की स्थापना हो जाती है और साथ ही दूसरी तरफ तीन-चार हजार चावल छीलने की मशीनें लगाने की इजाजत दे दी जाती है। एक तरफ अखिल भारत

खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड से कहा जाता है कि वह बैलघानी का प्रचार करे और दूसरी तरफ बड़ी संख्या में तेल की मिलें स्थापित करने की इजाजत दे दी जाती है। इन सब बातों से मनुष्य इसी नतीजे पर बरबस पहुँचता है कि इन संस्थाओं को यह जो मदद दी जा रही है, वह केवल तात्कालिक है। उसका उद्देश्य केवल इतना है कि बेकारी के बढ़ने में कुछ रुकावट हो जाय तथा मिलों और कारखानों द्वारा बनायी जानेवाली चीजों की जहाँ कमी हो, उसकी कुछ पूर्ति मात्र हो जाय। इस मदद के पीछे कहीं यह दिली कोशिश नहीं दिखाई देती कि इन छोटे-छोटे उद्योगों में काम में लिये जानेवाले औजारों में सुधार हो, ताकि वे अधिक अच्छी तरह काम देकर उत्पादन बढ़ा सकें। अथवा यह कि विकेन्द्रित उद्योग-पद्धति द्वारा उत्पादन का संगठन किया जाय।

इस प्रकार खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उनसे यह स्पष्ट है कि जब तक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न न होने देनेवाली अर्थात् विरोधी अथवा लापरवाही भरी नीतियाँ जारी रहेंगी, तब तक केवल आर्थिक सहायता से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। इसलिए जब तक प्रत्यक्ष शासन की उद्योग-नीति में स्पष्ट परिवर्तन नहीं हो जाता, विकेन्द्रित अर्थ-रचना का प्रतीक, खादी, सफल नहीं हो सकती।

इसी प्रकार देश के ग्रामीण जीवन को पुनः संगठित करने के उद्देश्य से जारी की गयी योजनाओं का जो अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए सामूहिक विकास-योजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार-क्षेत्र भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन तमाम योजनाओं का उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज की निम्नतम श्रेणी के लोगों को लाभ पहुँचे। इन योजनाओं का प्रारम्भ भी ऐसे ही क्षेत्रों में होना चाहिए, जिससे इस प्रकार के लोगों को उनका लाभ मिल सके। फिर इन योजनाओं की मातहत जो सहायताएँ दी जाती हैं, उनकी शर्तें भी इस उद्देश्य को पूरा करनेवाली हों, जिससे गरीब-से-गरीब आदमी उनसे लाभ उठा सके। अगर इन बातों का खयाल नहीं

रखा जायगा, तो इन योजनाओं का लाभ मुट्ठीभर आदमियों तक ही सीमित रह जायगा, जो उस क्षेत्र में आम जनता की तुलना में साधन-संपन्न माने जायेंगे।

सामुदायिक विकास-योजनाओं का कार्य जिस प्रकार चल रहा है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे ग्रामवासियों के निम्न-स्तरीय समुदाय को कुछ विशेष लाभ पहुँच रहा हो। इसमें सन्देह नहीं कि इन योजनाओं के चलते बहुत लोगों के लिए धन्धे की व्यवस्था हो पायी है और बहुत से लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार से लाभ पहुँचा है, किन्तु विकास-क्षेत्रों में व्याप्त विषमता में कमी नहीं आयी है। इस बात की भी आशंका है कि विकास-क्षेत्रों में विशिष्ट वर्गों की स्थिति और सुदृढ़ हो जाय। इसका निवारण तभी हो सकता है, जब कि भूमि पर सामूहिक स्वामित्व हो तथा ऐसे कार्यक्रम अपनाये जायँ और सहायता आदि की ऐसी विधि काम में लायी जाय कि समाज के निम्न-स्तरीय वर्ग को भी उससे लाभ पहुँचे।

ये तमाम कारण हैं और यह भी कि शासन द्वारा जारी की गयी योजनाएँ समाज को केन्द्रीकरण और हानिकर औद्योगीकरण की तरफ ले जानेवाली हैं, जिन्होंने विकेन्द्रीकरण और सर्वोदय के माननेवालों के लिए यह लाजिमी कर दिया है कि वे भी अब साफ-साफ शब्दों में अपने विचार समाज के सामने रख दें और अपने सिद्धान्तों के पक्ष में लोकमत को शिक्षित और संगठित करने में लग जायँ।

◆

अनुक्रम

सर्वोदय-संयोजन

भाग पहला

: १ :

हाइड्रोजन बम आज एक अमंगल छाया के रूप में संसार पर छाया हुआ है। इस अशुभ छाया के नीचे मानवता अत्यन्त भयभीत और चिन्ताग्रस्त जीवन बिता रही है।

आज का मानव इस बात पर गर्व अनुभव कर रहा है कि उसकी सभ्यता किस ऊँचाई तक पहुँच गयी है। सचमुच विज्ञान तथा यंत्रादि की प्रगति, उत्पादन की महान् गति और परिमाण तथा पश्चिम के खास-खास देशों का अपूर्व ऊँचाई को पहुँचा हुआ जीवन-मान चौंधिया देनेवाली चीजें हैं।

परन्तु यदि इस ऊपरी चमक-दमक को हटाकर देखा जाय, तो क्या आज का यह सभ्य और आगे बढ़ा हुआ मानव हाथ में खूनी सोंटा लेकर दौड़नेवाले पुराने जंगली मानव से वास्तव में कोई भिन्न प्राणी है? हाँ, सोंटे के स्थान पर आज उसके हाथ में हम हाइड्रोजन बम जरूर देखते हैं। परन्तु केवल इतने से उसके स्वभाव में कोई खास अन्तर नहीं आ गया है। वह तो आज भी अपने भाई के खून का उसी तरह प्यासा है।

आज संसार के महान् राष्ट्रों की चिन्ता का मुख्य विषय क्या है? यही कि किस प्रकार विज्ञान, नयी-से-नयी यान्त्रिक

प्रगति और अन्य साधनों का पूरा-पूरा उपयोग करके एक-दूसरे को नष्ट किया जाय। हाँ, अपने बचाव के लिए वे नाम जरूर सुरक्षा का लेते हैं। परन्तु सुरक्षा का नाम लेनेभर से उनकी हत्यारी प्रकृति में कोई अन्तर नहीं पड़ जाता। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक सभ्य होता जाय, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक भयग्रस्त होता जाय, यह इस सभ्यता की कड़ी-से-कड़ी निन्दा ही तो है।

आकाश में मनमाना संचार करनेवाला, दूर-दूर की वस्तुओं को टेलिविजन द्वारा प्रत्यक्ष आँखों के सामने उपस्थित कर देनेवाला और अणु का विस्फोट करने की क्षमतावाला मानव अगर इतना भी नहीं समझ पाया कि मनुष्यों की हत्या करना मानवोचित नहीं है, तो विज्ञान, यन्त्रशास्त्र आदि की इस प्रगति का क्या मूल्य है?

और इस विषय में उन दोनों अर्थात् पश्चिमी और रूसी सोवियत सभ्यताओं में कोई अन्तर नहीं है, जो आज द्वेष और गुस्से से एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी हैं। आज अगर वे एक-दूसरे पर टूट नहीं पड़ रही हैं, तो इसका कारण यह नहीं कि किसीके भी दिल में अपने दुश्मन के प्रति दया-भाव है, बल्कि यह है कि वे जानती हैं कि वे जिन शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए हैं, वे इतने भयंकर और नाशकारी हैं कि लड़ाई के बाद हारने और जीतनेवाले की हालत में भी कोई खास फर्क नहीं रह जानेवाला है।

संसार के राजनीतिज्ञ इस कोशिश में जरूर हैं कि आणविक युद्ध के प्रलयंकारी विनाश से संसार को बचाया जाय। ये यत्न अवश्य अच्छे हैं। परन्तु ये समस्या की जड़ तक नहीं पहुँच रहे

हैं। इसलिए इनसे कोई स्थायी हल मिलनेवाला नहीं है। शायद वे और भी अधिक भयंकर भ्रम साबित हों।

इस प्रकार आज सभ्यता एक बहुत बड़ी क्रान्ति में से गुजर रही है, इसे सब महसूस करते हैं। अब तो प्रायः सारा संसार अनुभव करने लगा है कि विज्ञान और यंत्रशास्त्र की प्रगति के साथ-साथ मानव अगर अपनी नैतिक उच्चता न बढ़ायेगा, तो मानवता का विनाश निश्चित है। इसलिए अब संसार के सामने मुख्य समस्या राजनैतिक या आर्थिक नहीं, बल्कि विशुद्ध रूप से नैतिक है।

आज दोनों सभ्यताएँ---पूँजीवादी और साम्यवादी--- भौतिक सुख-सामग्री की प्राप्ति के पीछे पड़ी हुई हैं। मनुष्य को सुखी बनाने के लिए यह सामग्री जितनी अधिक जुटाई जा सके, उसे दी जानी चाहिए। इस बात में दोनों के बीच भेद केवल इस बात का है कि पूँजीवादी सभ्यता में जहाँ यह यत्न व्यक्ति करता है, वहीं साम्यवादी सभ्यता में सामूहिक पुरुषार्थ पर विशेष भार दिया गया है। निःसन्देह व्यक्तियों के बीच किसी चीज के लिए कुत्तों की-सी लड़ाई हो, इसके बजाय यह अच्छा है कि सब मिलकर समूह के सुख के लिए यत्न करें। परन्तु यत्न चाहे व्यक्ति करे या समाज, लक्ष्य तो वही रहता है। इसलिए वास्तव में बुराई गलत लक्ष्य ही है।

इस बात से शायद ही कोई इनकार करेगा कि मनुष्य केवल इंद्रियों की गठरी नहीं है और मनुष्य-जीवन का आदर्श केवल इन इंद्रियों के सुखों की प्राप्ति ही नहीं हो सकता। वह इससे कहीं भिन्न हो सकता है। परन्तु कुछ इने-गिने साफ दृष्टि और साफ

२

दिमागवाले लोग कितनी ही चिल्लाहट मचाते रहें, दोनों सभ्यताओं का लक्ष्य अगर पूरी तरह नहीं, तो मुख्यतः इन इंद्रिय-सुखों की तृप्ति ही है। विषय-भोग और मनुष्य की इंद्रिय-लोलुपता बढ़ानेवाली 'सांस्कृतिक' प्रवृत्तियाँ ही, अगर एकमात्र नहीं तो अधिकांश में, जीवन का लक्ष्य बन गयी हैं। दोनों सभ्यताएँ भौतिक सुख-सामग्री बढ़ाकर मनुष्य को उसका गुलाम बनाने के यत्न में लगी हुई हैं। अपनी जरूरतों को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना उनका लक्ष्य है। अगर इस पागलपन पर वे कभी कहीं कोई नियन्त्रण रखने का यत्न करती हैं, तो उसे और अधिक गहरा (पागल) बनाने के लिए अर्थात् केवल शस्त्रास्त्रों का उत्पादन बढ़ाने के लिए, जो कि इससे भी बड़ा एक दूसरा पागलपन है।

इस दौड़ ने आज के मानव को हाइड्रोजन बम तक पहुँचा दिया है, जो उसका संपूर्ण नाश करने के लिए तैयार बैठा है। अतः कम-से-कम अब तो मनुष्य अपनी इस पागलपन की दौड़ में रुके और अपने जीवन के असली लक्ष्य पर विचार करे।

हम मानते हैं कि मनुष्य की भौतिक जरूरतें पूरी की जानी चाहिए—और अच्छी मात्रा में पूरी की जानी चाहिए। परन्तु मनुष्य यह तो समझे कि इनका पूरा करना, इन्हें बेकार बढ़ाते रहना और फिर उनकी पूर्ति में निरंतर लगा रहना तथा इंद्रियों की तृप्ति के पीछे दौड़ते रहना—बस, केवल यही तो मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। इन इंद्रियों की कभी तृप्ति भी होनेवाली है? यों तो मनुष्य दौड़ता ही रहेगा, उसे कभी विश्रान्ति नहीं मिलनेवाली है। न कभी वह अपने-आपको रोक

सकेगा और न उसे कभी कोई सुख मिलेगा। इसका नतीजा यह होगा कि यह भोगलिप्सा अन्य तमाम मानवोचित उदात्त प्रवृत्तियों को खा जायगी। उनका खग्रास ग्रहण हो जायगा। उपभोग्य वस्तुओं को पैदा करो और उनको प्राप्त करो, यही एकमात्र प्रवृत्ति या गुण—अगर यह गुण कहा जा सके—संसार में रह जायगा और मनुष्य के दूसरे सब शानदार सद्गुण और शुभाकांक्षाएँ सुप्त और अविकसित ही रह जायँगी। उनका विकास कुण्ठित हो जायगा। मनुष्य एकांगी बन जायगा और इस सभ्यता में बुद्ध, ईसा, मुहम्मद अथवा गांधी को कोई नहीं पूछेगा।

इसलिए आज मनुष्य को आत्मसंयम और अपनी आत्मा की खोज की यात्रा फिर से शुरू करनी है। जीवन-यात्रा के लिए भौतिक वस्तुओं का अपने स्थान पर मूल्य अवश्य हैं। लेकिन मनुष्य को जरा गहराई से अपने अन्दर पैठकर अपने असली स्वभाव की खोज करनी चाहिए, सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अध्ययन कर कूड़े-करकट को निकाल बाहर करना चाहिए और आत्मा का विकास करना चाहिए। इस आत्मशोधन और आत्मसंयम के रास्ते अलग-अलग हो सकते हैं। परन्तु हर हालत में मनुष्य इन इन्द्रियों की गुलामी से और आत्मा को संज्ञाशून्य बना देनेवाली जड़ता की पूजा से तो अवश्य ही अपने-आपको मुक्त करे। जिस मात्रा में वह अपने-आपको इन गुलामियों से मुक्त करेगा, उस मात्रा में उसे अवश्य सफलता मिलेगी। तब वस्तुओं के उत्पादन और उपार्जन के मोह संस्कृति पर हावी नहीं हो सकेंगे, बल्कि उसकी व्यापक योजना में वे अपने लिए उचित

स्थान ढूंढ़ लेंगे। यह पागल-दौड़ बंद हो जायगी और जीवन का नया दर्शन मनुष्य-जाति की आँखों के सामने खड़ा हो जायगा। मतलब यह कि वर्तमान सभ्यता में ब्रह्मचर्य और आत्मज्ञान को प्रतिष्ठित करने की सबसे भारी जरूरत है।

विज्ञान के इस युग में सबने मानो यह मान रखा है कि विज्ञान का एकमात्र उद्देश्य और उपयोग यही है कि मनुष्य अपनी रहन-सहन लगातार ऊँची करता जाय और विज्ञान उनकी पूर्ति के लिए तेजी से वस्तुएँ पैदा करता रहे। बेशक, विज्ञान का उपयोग मनुष्य-समाज के लिए आवश्यक वस्तुएँ निर्माण करना जरूर है और यह भी है कि दुःख और बीमारियों से मनुष्य को छुटकारा दिलाने में उसकी मदद करे। परन्तु विज्ञान को मनुष्य की संस्कारशून्य, कुरुचिपूर्ण और कभी तृप्त न हो सकनेवाली लालसाओं की तृप्ति करनेवाली भोग-सामग्री के उत्पादन के काम में ही तो नहीं लगाया जा सकता। मनुष्य का नैतिक विकास और विज्ञान की प्रगति साथ-साथ नहीं चल सकती, ऐसी बात नहीं है। सच तो यह है कि जब तक विज्ञान को नीति और मनुष्य-हृदय की उदात्त भावनाओं का सहायक नहीं बनाया जायगा, जब तक सत्य, प्रेम, दयालुता और मानव-जाति के कल्याण के लिए ही उसका उपयोग सीमित नहीं कर दिया जायगा, वह मानव-जाति के लिए एक अभिशाप और सम्पूर्ण नाशकारी सिद्ध होगा। विज्ञान की सफलता, सार्थकता और पूर्णता आत्मज्ञान के साथ रहने ही में है।

आज भारत में हम एक नवीन जीवन के द्वार पर खड़े हैं। ऐसा सुअवसर बहुत कम राष्ट्रों को मिलता है, क्योंकि हमें

लगभग शून्य में से नव-निर्माण करना है। आज हम जो कदम उठायेंगे, जिस दिशा में अपने कदम बढ़ायेंगे, वह हमारे राष्ट्र की आगे आनेवाली असंख्य पीढ़ियों की जीवन-दिशा का निर्णय करनेवाला है। इसलिए इस समय हमें खूब गहराई से सोचकर ही वहुत विचारपूर्वक अपने मार्ग का निर्णय करना चाहिए।

हमारे लिए यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि हमारी संस्कृति ने हमेशा बाहरी चमक-दमक की अपेक्षा आन्तरिक विकास पर, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर ही बल दिया है। परन्तु पश्चिम ने भौतिक विषयों में इतनी अधिक और प्रभावशाली प्रगति कर ली है और इस विषय में हम इतने दरिद्र रह गये हैं कि कभी-कभी बड़ा भय होता है कि पश्चिम को देखकर हम कहीं भटक न जायँ। इसमें कोई शक नहीं कि आज हमारे सामने सबसे बड़ा काम जनता का जीवन-मान ऊँचा उठाना है। परन्तु यह करते हुए हमें इस बात का खूब ध्यान रखना है कि हमारा लक्ष्य कहीं आँखों से ओझल न हो जाय। यह काम व्यक्तियों की आय पर कानूनी बन्दिशें लगाकर नहीं—यद्यपि सामाजिक न्याय प्रस्थापित करने के लिए वह भी आवश्यक होगा—बल्कि जनता को शिक्षित करके करना होगा। साथ ही जो व्यक्ति विशेष रूप से अच्छी जगहों पर हैं, उनको स्वेच्छापूर्वक अपनी जरूरतें घटाकर अनुकरणीय उदाहरण भी पेश करने चाहिए। मतलब यह कि प्रचार और प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा हमें जीवन का एक ऐसा नमूना विकसित करना है, जिसे आगे चलकर सारा समाज साधारण रूप में स्वीकार कर ले।

उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्पादन और उपार्जन की यह दौड़

मानव-मूल्यों के लिए इतनी विनाशकारी, मनुष्य-जाति के लिए इतनी दुःखदायी और लड़ाई-झगड़े पैदा करनेवाली नहीं होती—सभ्यता के लिए भी वह इतनी खतरनाक साबित नहीं होती, अगर इसमें भाग लेनेवाला हर पक्ष दूसरों को आवश्यक मात्रा में ये चीजें मिल रही हैं या नहीं, इसकी चिन्ता बगैर किये खुद अकेले ही अधिक-से-अधिक हड़पने की हवस न करता।

इस गर्दन काटनेवाली प्रतियोगिता की तह में शायद यह सिद्धान्त रहा है कि अगर हर मनुष्य अपने भले की चिन्ता कर लेगा, तो स्वभावतः सारे समाज की भलाई अपने-आप किसी रहस्यमय ढंग से हो ही जायगी। परन्तु दुःख है कि इतिहास इस सिद्धान्त के विरोध में जाता है।

सच पूछिये, तो एक मनुष्य की भलाई दूसरे मनुष्य के लिए हानिकर न होनी चाहिए। सचमुच एक की भलाई में सबकी भलाई होनी ही चाहिए। इसी प्रकार सबकी भलाई में व्यक्ति की भी भलाई होनी ही चाहिए। इस तस्वीर की सुन्दरता को बिगाड़नेवाली तथा समाज में प्रत्यक्ष झगड़े पैदा करनेवाली चीज तो खानगी–निजी संपत्ति जैसे गलत मूल्यों का प्रादुर्भाव है। जरूरत इस बात की है कि मानव-जाति की एकता स्थापित कर और गलत मूल्यों को हटाकर इन झगड़ों को मिटाया जाय।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में पैदा होता और समाज में ही काम करता है। वास्तव में समाज उसका जीवन-सर्वस्व है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में हजार तरह से उसे समाज का सहयोग और मदद मिलती है। इसके बगैर उसका ज़ीवन असंभव हो जाय। कहीं किसी तरह जिन्दा रहा भी, तो

वह एक निरा पशु बन जाय। परन्तु आश्चर्य यह है कि जीवन-संघर्ष में हर मनुष्य केवल अपना और अपने छोटे-से परिवार का ही खयाल रखता है और इस जीवन-संघर्षरूपी युद्ध के परिणाम-स्वरूप उसे जो फल मिलता है, उसे वह अपनी निजी संपत्ति ही मान लेता है, जब कि वास्तव में समाज के सहयोग से ही वह यह सफलता प्राप्त कर पाता है और न्यायतः इस फल का अधिकारी सारा समाज होता है। मनुष्य के जीवन में यह अजीब बात न जाने कब से चली आ रही है और वह आज भी है। एक तरफ वह समाज के साथ रहता है, उसके सहयोग से जीता है और दूसरी तरफ वह केवल अपने मतलब को देखता रहता है।

दूसरे प्राणियों के जीवन में हम यह नहीं पाते। कई जानवर झुण्ड बनाकर रहते हैं। दीमक, चींटियाँ, मधुमक्खियाँ, इनका अपना एक खासा विकसित संगठन होता है, जिसके अन्दर व्यक्ति और समाज का जीवन एक-दूसरे के लिए अर्पित-सा होता है। यह उच्च नैतिक सामाजिकता उनके अन्दर जन्मजात होती है।

मनुष्य-समाज इनसे कहीं अधिक विकसित है। अतः जो गुण जन्मजात वुद्धि द्वारा प्राणी जीवन में विकसित नहीं हो सकते, उनका विकास मनुष्य को अपने संस्कारों—नैतिक प्रयास—द्वारा करना चाहिए। मनुष्येतर प्राणी अपना विकास एक हद तक ही कर सकते हैं। उसके बाद अधिक ऊँचा उठना नैतिक प्रयास के बगैर संभव नहीं है। किन्तु यह तो मनुष्य को करना ही है। आज उसके लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न बन

गया है। क्योंकि अब मनुष्य-समाज ऐसी अवस्था को पहुँच गया है कि यदि व्यक्ति समाज के लिए जीना नहीं सीखेगा और समाज व्यक्ति के पूर्ण विकास का ध्यान न रखेगा, तो व्यक्ति और समाज, दोनों का नाश निश्चित है।

मानव-समाज में परिवार शुरू से एक ऐसी इकाई रहा है, जिसके अन्दर पारस्परिक सहयोग का यह नियम काम करता है। इसका आधार विशुद्ध प्रेम है। इसके अन्दर परिवार का प्रत्येक व्यक्ति मानता रहा है कि परिवार की संपत्ति पर उसके प्रत्येक सदस्य का समान अधिकार है। परन्तु इसकी तह में काम करनेवाला हेतु कोई नैतिक नहीं, नैसर्गिक नियम ही है। शुरू-शुरू में परिवार शायद छोटा ही रहा। धीरे-धीरे उसका आकार बढ़ा। बाद में इस पारिवारिक सहयोग की सीमाएँ विकसित होती गयीं और विशेष प्रसंग या विशेष हेतु से सहयोग करने की वृत्ति काफी बड़े क्षेत्र में काम करने लगी। परन्तु एक तो सहयोग की यह भावना संपूर्ण जीवन को व्याप्त न कर सकी और दूसरे, इस सहयोग का भी हेतु यही रहा कि उसके फल का उपभोग दूसरे नहीं, केवल सहयोगी समूह ही करे। मनुष्य का नैतिक और सांस्कृतिक विकास तो तब हुआ माना जायगा, जब यह पारस्परिकता की भावना सारी मनुष्य-जाति में फैल जायगी। इसका मूल आधार प्रेम और यह ज्ञान होगा कि 'समस्त मानव-समाज एक विशाल परिवार है और यह कि चूंकि तमाम वस्तुओं के उत्पादन एवं उपार्जन में समस्त समाज सहायक होता है, अतः इन पर किसी एक या इने-गिने व्यक्तियों का नहीं, सारे समाज का स्वामित्व

होगा' और उनका उपभोग समाज के सब सदस्य न्यायरूप से समानतापूर्वक करेंगे।

पुराने जमाने में मानव-समूह एक-दूसरे से आज की अपेक्षा जरा दूर-दूर रहा करते थे। इस कारण उनके बीच सहयोग और संघर्ष की भी संभावनाएँ कम ही रहती थीं। परन्तु अब विज्ञान ने मनुष्यों को एक-दूसरे के इतना नजदीक लाकर रख दिया है कि मानो हम सब एक-दूसरे के पड़ोसी बन गये हैं। इसलिए इस युग में सहयोग और संघर्ष, दोनों संसारव्यापी बन गये हैं। ऐसी सूरत में अब मनुष्य को चुनाव करना है कि वह समस्त संसार में सहयोग चाहता है या संसारव्यापी युद्ध। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अब सभ्यता के रहने या एकदम मिट जाने का समय आ गया है।

इस चुनाव में भी विज्ञान हमारी—मनुष्य की—मदद कर सकता है। हर चीज का बाँटकर उपभोग करने से मनुष्य नैतिक दृष्टि से ऊपर ही उठता है। हाँ, जब भोग-सामग्री सबके लिए पर्याप्त नहीं होती, तब जरूर मनुष्य को कुछ भय-सा रहता है। परन्तु अब तो ऐसी कोई बात नहीं। खूब उत्पादन होता है। सबको सुखी बनाया जा सकता है। अब मनुष्यों को इन चीजों के लिए कुत्तों की तरह लड़ने की कोई जरूरत नहीं रह गयी है। अब तो अगर मनुष्य अधिक लालच करना छोड़ दे और अपने भाइयों को देकर चीजों का उपभोग करना सीख जाय, तो मनुष्य-जाति के इतिहास में नया और सुन्दर सुखकर अध्याय शुरू हो सकता है।

इस प्रकार अब बाहरी और भीतरी विकास अर्थात्

वैज्ञानिक प्रगति तथा नैतिक कर्तव्य हमें एक ही रास्ते पर, एक ही लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं, यही कि हमें अब सहयोग का पाठ पढ़ना चाहिए—इस पृथ्वी पर सब मनुष्यों को हिल-मिलकर, आपस में बाँटकर उपभोग करना चाहिए।

एक तरफ नीति-धर्म चाहता है कि मनुष्य को अपने विकास की अन्तिम मंजिल तय करने का निश्चय कर लेना चाहिए। अर्थात् सबकी भलाई में अपनी भलाई देखकर वैसा अपना जीवन बना लेना चाहिए।

दूसरी तरफ मनुष्य-समाजों के बीचवाले ये स्वार्थों के संघर्ष अगर समाप्त नहीं होते हैं और सारे मानव-समाज में एक-दूसरे के कल्याण के लिए जीना हम नहीं सीख लेते, तो विज्ञान कहता है, मनुष्य-समाज सर्वनाश के लिए तैयार हो जाय।

'सह-अस्तित्व' की बात आजकल बहुत चल पड़ी है। परन्तु केवल सह-अस्तित्व से काम चलनेवाला नहीं है। संसार के राष्ट्र आज की भाँति स्वार्थमय जीवन बिताते रहें तथा अपने लिए अलग-अलग सत्ता और संपत्ति बटोरते रहें और अपनी सीमा के अन्दर और प्रभाव-क्षेत्रों में अन्याय, जुल्म और हत्याएँ करते रहें—इस तरह 'सह-अस्तित्व' का जीवन अब वे (संसार के राष्ट्र) बहुत अधिक दिन नहीं जी सकते। इस सह-अस्तित्व के जीवन में राष्ट्रों के स्वार्थों के बीच संघर्ष बना ही रहनेवाला है और ऐसी सूरत में तराजू के काँटे पर शान्ति की रक्षा बहुत अधिक समय तक नहीं की जा सकती। इसलिए, आनेवाले महा-विनाश से संसार को बचाना है, तो 'सह-अस्तित्व' की अपेक्षा कोई अधिक ठोस आधार संसार को ढूँढ़ना होगा। 'सह-अस्तित्व' से आगे

बढ़कर हमें सहयोग की तरह और प्रेमपूर्वक बाँट-बाँटकर उपभोग करने की कला सीखनी होगी; अन्यथा परिणाम बुरा होगा। क्योंकि आखिर सह-अस्तित्व का आधार भी तो स्वार्थ ही है। यह कि जिसके पास जो कुछ है, उसे वह रखा रहे और हर राष्ट्र या व्यक्ति अपनी संपत्ति को बढ़ाता रहे, फिर दूसरे का जो कुछ भी हो। इसका परिणाम तो अन्त में सह-विनाश ही होगा। संसार को शान्ति तभी नसीब होगी, जब व्यक्ति की भाँति राष्ट्र भी अपने अन्य भाई राष्ट्रों के लिए त्याग करना सीखेंगे। अर्थात् भोग-सामग्री, सेवा और ज्ञान में दूसरे राष्ट्रों को हिस्सेदार बनायेंगे तथा उनकी जरूरतों का खयाल कर अपनी रहन-सहन को सादा बनायेंगे और अपनी जरूरतों को कम कर लेंगे।

◇ ◇ ◇

: २ :

प्रकट है कि ऊपर बताये सिद्धान्तों के आधार पर जिस समाज की रचना होगी, वह हमारे आज के इस समाज से बिलकुल भिन्न होगा। इस समाज की पूरी-पूरी कल्पना आज करना कठिन है, क्योंकि हमारे साधन बहुत सीमित हैं। फिर भी यह तो सब मानेंगे कि समाज का भला चाहनेवाले सभी स्त्री-पुरुषों को उसके बनाने में लग जाना चाहिए। इस नये समाज का मूल आधार प्रेम और लक्ष्य, सबका भला, सबका सुख—सर्वोदय होगा। यद्यपि पूरी नहीं, तो भी ऐसे समाज के स्वरूप की कुछ कल्पना तो हम जरूर कर सकते हैं।

सर्वसाधारण रूप में इस समाज में स्पष्ट ही सब स्वतंत्र

होंगे और व्यक्तियों में अधिक-से-अधिक समता होगी। उसके अन्दर कोई वर्ग या जातियाँ न होंगी, अन्याय और शोषण न होगा और अपना पूरा-पूरा विकास करने के लिए हर आदमी को अवसर होगा। इस नये समाज का केन्द्र व्यक्ति होगा, परन्तु समाज-रचना का आधार स्वार्थ न होगा। अतः मनुष्य का विकास एकांगी नहीं, सर्वतोमुखी होगा। परिश्रम, कला और खेल, सब इस तरह ओत-प्रोत होंगे, जिससे इस समाज का मानव पूर्णतः विकसित नया व्यक्तित्व होगा।

अर्थ के क्षेत्र में जमीन सहित सारी सम्पत्ति पर स्वामित्व समाज का होगा और उसका उपयोग सम्मिलित रूप से सबके लिए होगा। पूँजीपति और मजदूर जैसे कोई भेद-भाव नहीं रहेंगे। इस कारण स्वभावतः मुनाफा, किराया, सूद, मजदूरी जैसे शब्दों का कोई अर्थ न होगा—वे कहीं सुनाई भी नहीं देंगे। हर आदमी अपनी शक्ति के अनुसार समाज के लिए काम करेगा और उसकी जरूरतों की पूर्ति समाज करेगा। परन्तु यह करते हुए समाज अपने अन्य सदस्यों की जरूरतों का भी खयाल जरूर रखेगा। ऐसे समाज में उत्पादन व्यापार-व्यवसाय के लिए नहीं, समाज की जरूरतों की पूर्ति के लिए होगा और उपभोग बाँट-बाँटकर होगा। कोई व्यक्ति अपने लिए अलग से संपत्ति इकट्ठी नहीं कर सकेगा, क्योंकि सारी संपत्ति का स्वामी समाज ही होगा और हर व्यक्ति को उसकी जरूरतों के अनुसार और उसके साथियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ही मिलेगा। समाज भी अपने लिए अधिक नहीं, केवल अगली जरूरतों के खयाल से ही कुछ संग्रह रखेगा।

समाज अपना नियमन भी खुद ही करेगा। अर्थात् ऊपर से किसीका नियन्त्रण नहीं होगा या कम-से-कम होगा। जनता अपना प्रबन्ध खुद कर लिया करेगी। मतलब, सरकार की सत्ता और अधिकारों में जमीन-आसमान का अन्तर हो जायगा। वह किसी पर जोर-जबरदस्ती नहीं कर सकेगी, क्योंकि जोर-जबरदस्ती की जरूरत ही नहीं होगी। अगर कहीं होगी, तो वह प्रेम की होगी।

दूसरे शब्दों में 'एञ्जील' के कथनानुसार तब शासन मनुष्यों पर नहीं, वस्तुओं पर होगा और शासन 'शासक' नहीं रहेगा, 'प्रबन्धक-संस्था' बन जायगा। शोषक और लालची समाज-रचना में मनुष्य सत्ता अपने हाथ में इसलिए रखना चाहता है कि दूसरे मनुष्य उसकी स्वार्थ-साधना में बाधा न पहुँचाने पायें। इसीका नाम 'सरकार' या 'शासन' है। किन्तु जिस समाज-रचना का आधार पारस्परिक सहयोग है, उसके अन्दर सारी संपत्ति समाज की होगी और लोग स्वेच्छापूर्वक आपस में बाँट-बाँटकर उसका उपभोग करेंगे। तब मनुष्यों पर हुकूमत चलाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। उसमें केवल चीजों का प्रबन्ध करने की अर्थात् उनके उत्पादन और वितरण का नियमन करने की जरूरत रह जायगी।

इस व्यवस्था का संचालन करनेवाली राजनैतिक और अर्थसम्बन्धी संस्थाओं का स्वरूप क्या होगा, यह आज ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु एक बात निश्चित है और उसके सिवा कोई रास्ता नहीं दिखाई देता कि जिस समाज का आधार पारस्परिक सहायता होगी, जिसके अन्दर स्वतन्त्रता

और स्वायत्तता होगी, वह अपना काम छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में ही उत्तम प्रकार से चला सकता है, फिर चाहे वह समाज गाँवों का हो या शहरों का। क्योंकि जिनको हम जानते हैं, उनकी सेवा करना या उनको अपना हिस्सेदार बनाना अधिक आसान होता है। बे-जाने-बूझे आदमियों के साथ---केवल कल्पना का---साझा या सहयोग मुश्किल हो जाता है। इसी प्रकार जब किसी दूर के केन्द्र से बहुसंख्यक मनुष्यों का शासन दूसरे के हाथों में सत्ता सौंपकर होता है, तब वहाँ सच्ची स्वतंत्रता नहीं होती। वह सीमित होती है और वहाँ स्वतंत्रता को सदा खतरा ही रहता है, ऐसा समझना चाहिए। स्वतन्त्रता का सच्चा आनन्द तो तभी मिलता है और लोकतंत्र अच्छी तरह वहीं काम कर सकता है, जहाँ छोटे-छोटे जन-समाज अपना प्रबंध खुद करते हैं।

इसके मानी यह नहीं कि समाज की बड़ी इकाइयाँ होंगी ही नहीं या उनके अन्दर सहयोग नहीं होगा या वे हिल-मिलकर उपभोग न कर सकेंगी अथवा अपना प्रबन्ध खुद न कर सकेंगी। समाज की बड़ी इकाइयाँ तो होंगी। परन्तु वे सीढ़ियों की भाँति एक के ऊपर दूसरी, इस तरह नहीं; बल्कि गांधीजी के सुन्दर शब्दों में 'एक बिन्दु से फैलनेवाली समुद्र की लहरों की भाँति एक-दूसरे से अधिक विशाल', इस तरह होंगी और अन्त में वह अपने अन्दर सारे संसार को समा लेंगी। किन्तु प्रारम्भिक इकाइयों के हाथों में अधिक सत्ता होगी और वे अधिक काम करेंगी। व्यापक अर्थात् बड़ी परिधिवाली संस्थाओं का काम होगा अन्दर के वृत्तों के बीच मेल बैठाना। तथापि ये सब वृत्त

और इनके अन्दरवाले मनुष्य एक-दूसरे के साथ प्रेम के बंधन में बँधे होंगे। प्रत्येक व्यक्ति सारी मनुष्य-जाति के लिए और मनुष्य-जाति हर व्यक्ति के लिए जीयेगी।

खुद गांधीजी के शब्दों में ही इस कल्पना को पढ़िये—

"इस रचना के अन्दर असंख्य गाँव होंगे। ये एक ही बिन्दु के आसपास फैलनेवाले एक-से-एक बड़े वृत्त होंगे। जीवन एक पिरामिड नहीं होगा, जिसमें ऊपर की सारी इमारत का बोझा नीचेवाले स्तर पर आ जाता है।

"यह रचना तो महासागर की लहरों के वृत्त के जैसी होगी, जिसका केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति होगा, जो गाँव के लिए और गाँव ग्राम-समूह के हितार्थ मिटने के लिए तैयार रहेंगे। यहाँ तक कि सबका मिलकर एक संपूर्ण अभिन्न एकरस जीवन बन जायगा, जिसके अन्दर कोई किसी पर सत्ता के मद में आक्रमण नहीं करेगा, बल्कि हर व्यक्ति नम्रतापूर्वक रहेगा और अपने को विशाल व्यापक समाज का एक अंग मानकर उसकी महत्ता का आनंद उठायेगा।"

प्राथमिक इकाइयों का यह काम होगा कि वे अपने तमाम सदस्यों की भलाई का खयाल रखें, उनकी जरूरतों की पूर्ति हो जाया करे, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सेवाओं का लाभ उनको मिलता रहे, खेती-बारी और उद्योगों की देखभाल ठीक-ठीक होती रहे। और अगर समाज में कहीं झगड़े हो जायँ—जैसे कि परिवार के अन्दर भी कभी-कभी हो जाया करते हैं—तो सद्भाव-पूर्वक उनका भी निपटारा कर लिया करें। जंगली जानवरों से समाज की रक्षा करें और अगर कहीं समाज-विरोधी तत्त्व पैदा

हो जायँ, तो तत्काल ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय कि वे समाज को हानि न पहुँचा सकें और उनके साथ ऐसा बर्ताव हो कि वे अपने बुरे मार्ग से हट जायँ। जहाँ तक सम्भव होगा, हर प्राथमिक इकाई अपनी आवश्यक जरूरतों की चीजें पैदा कर लिया करेगी। इससे उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा होगी और अधिक व्यापक वृत्तों के साथ सहयोग आसान बन जायगा। कोई यह न समझ ले कि इतने छोटे समाज के अन्दर जीवन नीरस हो जायगा। इसके अन्दर भी विविधता और सांस्कृतिक जीवन का आनन्द लेने के लिए काफी अवकाश रहेगा। हाँ, वह जीवन संयमी जरूर होगा।

अनुभव यह है कि जब बड़े-बड़े यन्त्रों की सहायता से उत्पादन केन्द्रित कर दिया जाता है (चाहे उन यन्त्रों पर स्वामित्व व्यक्तियों का हो या समाज का), तो वहाँ सत्ता और संपत्ति का भी केन्द्रीकरण होने लगता है। शोषण और हुक्म चलाने की वृत्ति बढ़ती है। इसलिए नये समाज के अन्दर विकेन्द्रीकरण अधिक पसन्द किया जायगा। इसका मतलब यह नहीं कि किसीको पुराने जमाने के भद्दे औजारों से कोई विशेष प्रेम है, बल्कि इसमें समाज के विकास और कल्याण की और खासकर ऊपर बताये खतरों से बचने की दृष्टि है। विकेन्द्रित उत्पादन की पद्धति में भी उत्तरोत्तर यन्त्रों का सुधार जरूर हो सकता है। वर्तमान समाज-रचना में यह नहीं हुआ, इसका कारण यह रहा है कि विज्ञान और यन्त्रशास्त्र को मुनाफा-वृत्ति के अधीन और हिंसा का गुलाम बनकर रहना पड़ा है। मुनाफा और युद्ध के चाहनेवालों ने बड़े-बड़े यन्त्रों और केन्द्रित

उत्पादन की पद्धति को इसलिए पसन्द किया कि उसकी सहायता से उन्हें खूब मुनाफा मिला है और वे युद्ध के बड़े-बड़े यन्त्र-उपकरण बना सकते हैं। किन्तु यदि इसी विज्ञान और यन्त्रशास्त्र को शान्तिशील और शोषणरहित समाज-रचना की सेवा में लगा दिया जायगा, तो निश्चय ही उनका विकास दूसरी प्रकार से होने लगेगा और उनकी सहायता से ऐसे यन्त्र अवश्य बनाये जा सकेंगे, जो विकेन्द्रित उत्पादन-पद्धति में आज की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा काम देंगे और उत्पादन भी बढ़ा देंगे। इसमें विज्ञान के विकास के लिए भी पूरा-पूरा अवकाश है। यह इतिहास में पहली बार मानवता की सच्ची सेवा के लिए विज्ञान का समर्पण होगा।

यन्त्रशास्त्र का एक और भी पहलू है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। प्रगति के नाम पर उसका विकास कुछ इस तरह का हो रहा है कि सब काम यन्त्र द्वारा अपने-आप होने लगता है। मनुष्य केवल बटन दबा दें। इन यन्त्रों की बनावट, आकार-प्रकार—काम करने का तरीका वगैरह के बारे में सोचना, इनके नकशे-नमूने बनाना, यह सब ऊँचे दिमागवाले इने-गिने आदमी ही करते रहते हैं।

पुराने जमाने के लोग कहा करते थे कि शास्त्रों को अनधिकारी और कुपात्रों के हाथों में देना बहुत बड़ी भूल है। आज जो कुछ चल रहा है, वह इस कथन की सचाई का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। बेशक, मनुष्य को थका देनेवाले बेकार के परिश्रम से अवश्य बचाना चाहिए। परन्तु उसे ऐसी हालत में पहुँचा देना तो निःसन्देह बुरा है कि जिसमें उसका जीवन एकदम निरर्थक बन जाय और उसके हाँथ-पाँव—इंद्रियाँ बेकार और पंगु बन

जायँ। मनुष्य-समाज के लिए एक ऐसा आदर्श बनाना कि जिसके अन्दर कोई प्रत्यक्ष काम न हो, केवल खेल ही खेल और मनोरंजन ही रहे, बड़ा खतरनाक है। इससे जीवन सूना, संस्कृति निःसार और संसार शैतान का लीला-क्षेत्र बन जायगा। मनुष्य-शरीर के लिए व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष काम को ही स्वास्थ्यप्रद व्यायाम का रूप दे दिया जाय, तो वह कितना अच्छा हो। असल में काम और खेल को एक-दूसरे से अलग-अलग कर देना ही भूल है। केवल काम करने से ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो सकता है, जो समाज के लिए भी उपयोगी, स्वास्थ्य-प्रद, आनन्ददायक और सृजन-शक्ति को बढ़ानेवाला है। इसलिए भावी समाज में बौद्धिक काम और शारीरिक काम, इस तरह के भेद रहेंगे ही नहीं; बल्कि परिश्रम, खेल और कला, इस तरह एक-दूसरे के अन्दर घुल-मिल जायँगे कि जीवन में नया आनन्द पैदा हो जायगा। छोटे-छोटे यन्त्रों की सहायता से, विकेन्द्रित पद्धति से, उत्पादन करने के पक्ष में एक और कारण भी है, जिसका विचार हमें अभी करना है; क्योंकि काम करने का आदर्श तरीका यही है।

हाँ, कुछ उद्योग और कारखाने ऐसे जरूर हैं, जिनका संचालन केवल केन्द्रीकरण की पद्धति से ही संभव है, क्योंकि इनके लिए आवश्यक कच्चा माल एक सीमित क्षेत्र में ही मिल सकता है। ऐसे क्षेत्रों में केन्द्रीकरण की पद्धति से बड़े पैमाने का उत्पादन टाला नहीं जा सकता। किन्तु दूसरी तमाम संपत्ति की भाँति ये भी समाज की ही संपत्ति होंगे और इनका संचालन लोक-तंत्र की पद्धति से होगा। यह किस तरह संभव होगा,

इसके तरीके ढूँढ़ लिये जायँगे, ताकि सत्ता इने-गिने आदमियों के हाथों में केन्द्रित न हो जाय या यथासंभव ऐसा कम-से-कम हो।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण उद्योग—शस्त्र-निर्माण का—इस नयी समाज-रचना में बिल्कुल नहीं होगा। क्योंकि लड़ाइयाँ होंगी ही नहीं और इसलिए फौजों की भी जरूरत नहीं होगी।

इस समाज का राजनैतिक जीवन स्वभावतः आज की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न होगा। विकेन्द्रीकरण इसकी विशेषता होगी, यह तो कह ही दिया गया है। शासन का स्थान प्रबन्धक-संस्थाएँ ले लेंगी और शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे जनता के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रबन्ध प्राथमिक संस्थाओं के हाथ में ही होगा।

नये समाज के अन्दर स्वार्थों का विरोध या संघर्ष न होगा और चूँकि लोग सद्भाव के साथ हिल-मिलकर रहेंगे, जीवन की पद्धति सहयोग की होगी, इसलिए सारे निर्णय हाथ गिनने के बजाय सर्वसाधारण की सम्मति से होंगे। इसके मानी यह नहीं कि तब लोगों की राय अलग-अलग नहीं होगी। अलग-अलग तो होगी, परन्तु इस मत-विभिन्नता की जड़ में हेतु व्यक्तियों या दलों का स्वार्थ नहीं, सर्वसाधारण का हित होगा। यह संभव है कि कभी-कभी व्यक्तिगत स्वार्थ समाज के हित के रूप में पेश किये जायँ। परन्तु यह धोखा बहुत देर तक नहीं चल सकेगा। ज्यों ही असलियत लोगों की समझ में आ जायगी, लोक-भावना उनके खिलाफ इतने जोरों से जाग पड़ेगी कि उनके पैर उखड़ जायँगे। परन्तु समाज के कल्याण के बारे में भी कभी-कभी

तीव्र मतभेद खड़े हो सकते हैं। ऐसे प्रसंग पर विषय महत्त्वपूर्ण होने पर भी निर्णय मुल्तवी किया जा सकता है। क्योंकि लोग सोचेंगे कि अन्ततोगत्वा कुछ हानि उठाकर या देर लगे, तो भी आपस में एकता और सद्भाव की रक्षा करना भला ही है।

यद्यपि सारे निर्णय सर्वसाधारण की सम्मति से लिये जायँगे, फिर भी यह संभव है कि कभी-कभी एक या अधिक व्यक्ति यह अनुभव करें कि कोई खास निर्णय इतना गलत हुआ है या किसीकी आत्मा को या सदसद्विवेकबुद्धि को इतनी अधिक चोट पहुँचा रहा हो कि वे इस निर्णय का विरोध करने पर मजबूर हो जायँ, तो ऐसी सूरत में समाज इन लोगों के सत्याग्रह के अधिकार को मान लेगा। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि यही हक दूसरे प्रकार की राय रखनेवालों को भी होगा। इस तरह व्यक्तिगत और नागरिक स्वतन्त्रता का अन्तिम सहारा 'सत्याग्रह' होगा।

हर प्राथमिक समाज अपने कुछ खास-खास काम और सेवाओं के लिए कुछ लोगों को चुन लेगा। यह चुनाव भी सर्व-सम्मति से होगा। इन सेवाओं के लिए चुने हुए व्यक्तियों को अलग से कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जायगा, क्योंकि समाज ने अपने हर सदस्य के निर्वाह का प्रबन्ध पहले ही कर दिया होगा। इस तरह समाज को वेतन के रूप में अपने प्रबन्ध के लिए कुछ भी खर्च नहीं करना होगा।

बड़े वृत्तों का प्रबन्ध उन समितियों के द्वारा होगा, जिनके सदस्य प्राथमिक या अन्य भीतरी वृत्तों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति से चुने जायँगे। इनके निर्णय भी सर्वसम्मति से ही होंगे

और इनके सदस्यों तथा पदाधिकारियों को भी वेतन के रूप में कुछ न देना होगा।

इतने विवेचन से अब यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि नये समाज में आज जैसी पश्चिम की या सोवियत रूस की दलोंवाली पद्धति नहीं होगी और फलतः सत्ता के लिए संघर्ष नहीं होगा।

यह नयी समाज-व्यवस्था—यद्यपि इसका स्वरूप अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ है—समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी "कल्याणकारी" प्रचलित समाज-व्यवस्थाओं से बहुत भिन्न प्रकार की होगी। क्योंकि इन सब व्यवस्थाओं में सारी सत्ता ऊपर केन्द्रित हो जाती है और नीचे—लोगों के हाथों में—यों ही थोड़ी-सी बची-खुची छोड़ दी जाती है। इनके अन्दर संपूर्ण सत्ता होती है शासनकर्ता दलों के हाथों में, पार्लियामेंट के पास और अधिकारी-वर्ग के अधीन। जनता का अधिकार तो अपने प्रतिनिधियों के चुनावों में प्रारम्भ होता है और वहीं समाप्त भी हो जाता है। और ये चुनाव भी होते हैं केन्द्र द्वारा संचालित और सुगठित सत्ताधारी दलों के मार्ग-दर्शन और नियन्त्रण में।

नये समाज में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण काम करेगी। इसकी जिम्मेदारी मुख्यतः प्राथमिक संस्थाओं की होगी। उच्च शिक्षा की व्यवस्था बहुत-सी प्राथमिक संस्थाएँ मिल-जुलकर, सहयोग-पूर्वक कर लेंगी। शिक्षा जीवन से पृथक् जैसी वस्तु नहीं, उसीका अपना अंग होगी। परिश्रम, उत्पादन और समाज की अन्य प्रवृत्तियों के साथ वह जुड़ी हुई होगी। मनुष्य के अन्दर सुप्त

भलाई को जाग्रत और विकसित करना उसका लक्ष्य होगा। संपूर्ण शिक्षा निःशुल्क होगी।

: ३ :

इस नये समाज की तुलना जब आज के समाजों से करते हैं, तो वह सुनहले स्वप्न जैसी वस्तु प्रस्तुत होती है। और इसके प्रस्तुत करनेवाले हम लोगों को यह लोग स्वप्नदर्शी कहें, तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु जैसा कि हमने देखा है, अगर मनुष्य-जाति को जिन्दा रहना है, तो इसके सिवा कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। फिर हम पूछते हैं—और यह और भी महत्त्व की वात है—कि जब मनुष्य ने विज्ञान में और भौतिक समृद्धि में इतनी उन्नति कर ली है, तब वह आत्मा को ऊपर उठानेवाली इस यात्रा में नैतिक उच्चता की ओर बढ़ने से क्यों डरता है? वह इसे असंभव अथवा अव्यावहारिक क्यों मान लेता है? सचमुच, मनुष्य के लिए संसार में क्या इससे भी अधिक आनन्दोत्साह का देनेवाला और उसे शोभा देनेवाला दूसरा कोई काम हो सकता है? हम तो कहते हैं कि भले ही यह स्वप्न भी हो, तो भी इसे साकार करने के लिए जी-जान से जुट पड़ना मनुष्य के लिए अब सुलभ हो गया है।

तो, अब इसे पूरा कैसे किया जाय? इस अप्रतिम क्रान्ति का मार्ग क्या होगा? जवाब सीधा है। वर्तमान संस्थाओं के अंदर इस नवीन जीवन-क्रम के लिए आवश्यक ऐसे भारी-भारी परिवर्तन हमें करने होंगे। इसी प्रकार कई नयी संस्थाएँ भी खड़ी करनी होंगी। परन्तु इस महान् क्रान्ति का केन्द्र-विन्दु तो

खुद मनुष्य ही होगा। बीच के संक्रमण-काल में संस्थाओं के अन्दर छोटे-बड़े क्या-क्या परिवर्तन किये जाने चाहिए तथा निर्माण की जानेवाली नयी संस्थाएँ कैसी हों, इसका दिशा-दर्शन कुछ तफसील के साथ आगे दिया जा रहा है। नीचे कुछ मानवीय प्रक्रियाओं का वर्णन है।

जिस समाज का आधार ही प्रेम और आत्म-संयम है, उसकी स्थापना हिंसा और जोर-जबर्दस्ती से नहीं की जा सकती। लोगों को प्रेम करने के लिए मजबूर भी नहीं किया जा सकता। कानून या सत्ता के बल पर संपत्ति का बँटवारा किया जा सकता है। परन्तु किसीको जोर-जबर्दस्ती से हिस्सेदार नहीं बनाया जा सकता।

दूसरे को अपना हिस्सेदार आदमी तभी बनाता है, जब उसके दिल में प्रेम और दिल की भूख होगी। वितरण बाहरी परिवर्तन है। हिस्सेदार बनाने के लिए भीतरी परिवर्तन आवश्यक है। वितरण के लिए कानून में सुधार करने की जरूरत होगी, किन्तु हिस्सेदार अथवा साझी दूसरे को मनुष्य तभी बनायेगा, जब उसका दिल तैयार होगा। इसके जीवन-मूल्य बिलकुल भिन्न होंगे। दूसरे क्रान्तिकारी आदर्शों ने बाहरी परिवर्तन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया है। हम जिस परिवर्तन का जिक्र कर रहे हैं, उसका केन्द्र-बिन्दु भीतरी परिवर्तन होगा।

क्रान्तियों का अनुभव कहता है कि केवल बाहरी परिवर्तनों से काम नहीं चलता। उनसे मनुष्य का दिल बदल ही जाता हो, ऐसी बात नहीं। फिर यह भी देखा गया है कि क्रान्ति के बाद मनुष्यों के दिलों में यदि आवश्यक परिवर्तन नहीं हो पाया, तो

वे बाहरी परिवर्तन भी नहीं टिक पाते, जिनको लोग इतना दिल से चाहते थे और जिनके लिए समाज ने इतने भारी-भारी बलिदान किये थे। इस तरह अन्त में क्रान्ति बेकार हो जाती है। उदाहरण के लिए देखिये कि सब क्रान्तियों का सबसे बड़ा उद्देश्य समानता की स्थापना रहा है। परन्तु आज तक कोई क्रान्ति इस समानता को लाने में सफल नहीं हुई है। समानता का आधार केवल एक ही हो सकता है और वह यह कि मनुष्य अपनी संपूर्ण शक्ति और बुद्धि समाज की सेवा में लगा दे। और समाज उसकी जरूरतों की पूर्ति कर दिया करे। परन्तु रूस के समान बड़ी से बड़ी आमूल-चूल बाहरी फेर-बदल कर देनेवाली क्रान्ति में भी यह नहीं हो सका है। वहाँ पारिश्रमिक मिलने पर भी हर मनुष्य खुशी-खुशी समाज की सेवा नहीं करता। अथवा वहाँ मनुष्य अलग-अलग प्रकार के बुद्धि-कौशल और परिश्रम पर समान पारिश्रमिक पाकर खुश नहीं हैं। इस प्रकार जहाँ खानगी संपत्ति की विषमताओं को बढ़ानेवाले मुनाफा, ब्याज और किराया जैसे साधन समाप्त कर दिये गये हैं, वहाँ भी आज भारी विषमताएँ पैदा हो गयी हैं, क्योंकि वहाँ भी लोग पारिश्रमिक अपनी जरूरतों के अनुसार नहीं, बल्कि योग्यता, उत्पादन, प्रतिष्ठा और ओहदे के आधार पर चाहते हैं। जब इनको ध्यान में रखकर वेतन दिया जाता है, तब परिणाम यही होता है कि एक मजदूर को बहुत कम वेतन मिलता है, यद्यपि उसके आश्रित अधिक होते हैं और दूसरी तरफ कम आश्रित होने पर भी एक अधिकारी अधिक वेतन पाता है। इस तरह तो विषमता और सामाजिक अन्याय बने ही रहते हैं। विषमता का यह खतरा वहाँ और भी बढ़

जाता है, जहाँ दूसरों के काम और वेतन का निर्णय करनेवालों के हाथों में अपने काम और वेतन का निर्णय करने का अधिकार भी होता है। जहाँ-जहाँ सत्ता चोटी के मुट्ठीभर आदमियों या अधिकारियों के हाथों में केन्द्रित होगी, उन सब व्यवस्थाओं में यह बुराई रहेगी ही। और समाजवाद अथवा साम्यवाद को भी, जिस रूप में उनका आज प्रचार और व्यवहार किया जाता है, इससे खतरा है।

इस प्रकार हम समझते हैं कि हमारा मुद्दा बिलकुल साफ हो गया है। जब तक मनुष्य के हृदय में परिवर्तन नहीं हो जाता, तब तक केवल बाहरी परिस्थितियों को बदल देनेभर से काम नहीं चलता। जब तक मनुष्य को भीतर से प्रेरणा नहीं होगी कि वह समाज की सेवा में तन-मन अर्पण कर दे और ले केवल अपनी जरूरतभर के लिए, तब तक समाज के अन्दर समानता नहीं आयेगी। यही नहीं, बल्कि तब तक न्याय और शान्ति की स्थापना भी नहीं हो सकेगी।

तब यह भीतरी परिवर्तन कैसे लाया जाय? निश्चय ही जोर-जबर्दस्ती इसका उपाय नहीं है। प्रेम से, बुद्धि के समाधान से, राजी करके और उदाहरण द्वारा ही यह संभव है। परन्तु क्या इस तरह जनता को बहुत बड़ी संख्या में लोगों को समझाया जा सकता है? इसका उत्तर है हाँ, जरूर। जहाँ पर जनता की आँखों के सामने उपदेश और आचार के रूप में अच्छे आदमियों की प्रत्यक्ष मिसाल होती है, वहाँ यह परिवर्तन प्रतिदिन होता देखा जा रहा है। परन्तु हाँ, ऐसे हृदय-परिवर्तन की मिसालें तो बहुत थोड़ी मिलेंगी। जब तक ऐसा हृदय-परि-

वर्तन बड़े पैमाने पर नहीं होगा, तब तक समाज का स्वरूप नहीं बदल सकता और जीवन के नये मूल्य स्थापित नहीं होंगे। इन नये मूल्यों को स्थापित करने और मनुष्य के हृदय और दिल को बदलकर समाज के सारे स्वरूप को बड़े पैमाने पर पलट देने का शास्त्र महात्मा गांधीजी ने ढूँढ़ निकाला। मनुष्य-जाति को उनकी यह एक बहुत बड़ी देन थी।

श्री विनोबा का भूदान-यज्ञ इस शास्त्र का एक शानदार प्रयोग है।

केवल बाहरी परिवर्तन से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे वादों ने स्वार्थों के संघर्ष को अपनी क्रान्तियों का प्रेरक बल बनाया। और इसके आधार पर बड़ी शक्तिशाली हलचलें खड़ी कीं। परन्तु उनके परिणाम उत्साहवर्धक नहीं हैं। न वे भविष्य में कोई बड़ी आशाएँ बँधाते। इन हलचलों को जहाँ कुछ सफलता मिली भी है, वहाँ सत्ता, पद और संपत्ति की लालसा तथा लड़ाई-झगड़े और हिंसा का साम्राज्य फैला हुआ है। स्वतंत्रता और समानता अब भी सपने की चीजें हैं। मनुष्य और समाज के लिए जिन आदर्शों को इस पुस्तिका में पेश किया गया है, उनसे इन वादों का कोई वास्ता नहीं दिखाई देता। स्वार्थों के संघर्ष स्वार्थ-परायणता का नाश और निःस्वार्थता पर आधारित समाज की स्थापना कभी नहीं कर सकते। अतः अगर स्वार्थ-परायणता रहती है, तो उसके साथ अपनी तमाम बुराइयों के साथ समाजों के बीच संघर्ष भी अवश्य ही रहेंगे।

आज तक की तमाम क्रान्तिकारी हलचलों की असफलता का मूल कारण यह नैतिक दोष रहा है। श्रीमानों के लालच,

स्वार्थान्धता और ममत्व की निन्दा की गयी है। परन्तु ध्यान देने की बात है कि साधनहीन गरीब भी इन दुर्गुणों से मुक्त नहीं रहे हैं। उन्होंने भी अपने स्वार्थ, ममता और लालच को नहीं छोड़ा है। लोगों ने चाहा है कि धनवानों की संपत्ति गरीबों में बाँट दी जाय। परन्तु गरीबों ने अपनी जमीन-जायदाद का मोह नहीं छोड़ा है। वे चाहते हैं कि उस पर तो उन्हीं का अपना पूरा स्वामित्व रहे। छोटे किसान चाहते हैं कि बड़े जमींदारों की जमीनें बाँट दी जायँ, परन्तु अपनी जमीनों में से एक डिसमल का टुकड़ा भी वे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। स्वामित्व की भावना का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह गरीब-अमीर, सबमें एक-सी है। गरीब के अन्दर रत्तीभर भी कम नहीं। लोग यह नहीं खयाल करते कि बड़ी-बड़ी खानगी जायदादें तो पिरामिड के शिखर की भाँति—बहुत कम हैं। परन्तु इस प्रथा का मूलाधार तो गरीबों की वे लाखों छोटी-छोटी जायदादें ही हैं। बड़ी-बड़ी खानगी जायदादें इसी कारण टिकी हुई हैं कि लाखों की संख्या में गरीब उतने ही मोह के साथ अपनी छोटी-छोटी जायदादों से चिपके हुए हैं। अतः करोड़ों साधारण लोगों को यह समझ लेना है कि संपत्ति मात्र, चाहे वह थोड़ी हो या अधिक, समाज की है, क्योंकि सारे समाज के सहयोग से ही उसका उत्पादन संभव हुआ है, अतः सबको हिल-मिलकर, बाँटकर उसका उपभोग करना चाहिए—यदि यह समझकर वे अपने-आप संपत्ति के स्वामित्व को छोड़ दें, तो खानगी स्वामित्व या संपत्ति की सारी इमारत बात की बात में ढह जाय।

सामाजिक परिवर्तन लानेवाली यह एक जबर्दस्त नयी

शक्ति है। जो क्रान्तिकारी वर्ग चाहते हैं कि समाज के अन्दर से असमानता, सामाजिक अन्याय, शोषण, स्वार्थपरायणता और लालच मिट जाने चाहिए, उन्हें चाहिए कि वे इसका प्रारम्भ खुद अपने जीवन से करें। उन्हें खुद इसलिए प्रारम्भ करना चाहिए कि वे समाज में इन मूल्यों की स्थापना द्वारा क्रान्ति लाना चाहते हैं। धनवानों के धन पर लालच की निगाह डालने से पहले वे अपने निजी लोभ-लालच को दिल से निकाल बाहर करें, ऐसे सब व्यक्तियों की संपत्ति एकत्र करें और आपस में समानतापूर्वक उसका उपभोग करें। अगर लाखों की संख्या में लोग यह करने लगेंगे, तो एक नैतिक वातावरण बन जायगा और फिर धनवानों को भी अपनी संपत्ति समर्पित कर देने की प्रेरणा होने लगेगी। तब वे इसे टाल नहीं सकेंगे और अपनी संपत्ति देकर, सबके साथ मिलकर—सबके समान बनकर उसका उपभोग करेंगे। इतने पर भी अगर कोई ऐसा नहीं करेगा, तो जिनके सहयोग से उन्होंने इस संपत्ति को पाया और रक्षा कर पाये हैं, वे सब उनके साथ सहयोग करने से इनकार कर देने के अधिकारी हो जायेंगे। ध्यान देने की बात है कि इस असहयोग का हेतु संपत्ति का लालच नहीं, बल्कि बुराई में सहयोग नहीं देना, यह होगा। जब तक गरीबों के अन्दर खुद लोभ, लालच, ममता भरे पड़े हैं, तब तक वे किसी ऐसे ही आदमी से महज इसलिए कि वह अधिक संपत्ति बटोरने में सफल हो सका है—असहयोग करने के अधिकारी नहीं बन जाते। ऐसी सूरतों में किया गया असहयोग तो उससे संपत्ति का बड़ा हिस्सा छीनने के लिए धारण किया गया एक शस्त्रमात्र होगा।

भूदान-यज्ञ इस नयी शक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इस नयी सामाजिक शक्ति का भूदान एक नया उदाहरण जरूर है; परन्तु हर जगह इसी प्रकार को काम में लिया जाय, यह जरूरी नहीं है। असल महत्त्व की बात तो उसका मूलभूत सिद्धान्त और शास्त्र है। इस सिद्धान्त और शास्त्र को समझकर संसार के राष्ट्र अपने लिए नयी-नयी हलचलें ढूँढ़ सकते हैं। आज तो वे शस्त्रों के उत्पादन की घुड़दौड़ में लगे हुए हैं। इसके बजाय अगर वे शस्त्रास्त्रों के निर्माण में लगनेवाले अपार धन के अंश को भी अपने-अपने राष्ट्र में या राष्ट्रों के बीच सदुपयोग में लगाने की हलचलें शुरू कर दें, तो भी संसार में शान्ति की स्थापना हो सकती है और सर्वनाश से मनुष्य-जाति को बचाया जा सकता है। तब सह-अस्तित्व सहयोग में परिणत हो जायगा, जिससे संसार के तमाम मनुष्यों और राष्ट्रों का कल्याण होगा।

भाग दूसरा

: १ :

लक्ष्य

सर्वोदय-योजना का लक्ष्य 'सर्वोदयी समाज-व्यवस्था' कायम करना है। सर्वोदय को अधिक-से-अधिक लोगों की अधिक-से-अधिक भलाईवाले उपयोगितावादी लक्ष्य से संतोष नहीं। वह यह भी विश्वास नहीं करता कि एक अटल ऐतिहासिक प्रक्रिया समाज के अन्दर एक-दूसरे के विरोधी स्वार्थवाले वर्ग निर्माण करती रहती है और ऐसी शक्तियों को उत्पन्न करती रहती है, जो इनको एक-दूसरे से लड़ाती रहती है। इस विचार के माननेवाले समझते हैं कि हमारा काम तो सिर्फ इतना है कि इनमें से जो सबसे बड़ा वर्ग पददलितों का है, उसकी मदद करके हिंसा के वैज्ञानिक उपयोग द्वारा इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की गति को जरा तेज कर दें और तानाशाही की मदद से उस बहुसंख्यक दलित-वर्ग को सत्ताधारी बना दें। सर्वोदय वह दर्शन भी नहीं, जो सर्वाधिक भौतिक समृद्धि को सामाजिक प्रगति का एकमात्र या मुख्य नाप भी मानता हो।

जैसा कि शब्दार्थ से ही प्रकट है, सर्वोदय का अर्थ है सबकी सर्वांगीण उन्नति। वह मानता है कि समाज के अन्दर व्यक्तियों और संस्थाओं के सम्बन्धों का आधार सत्य और अहिंसा होना चाहिए। उसका यह भी विश्वास है कि समाज में सब व्यक्ति

समान और स्वतंत्र हैं। और इनके बीच कोई चिरस्थायी सम्बन्ध हो सकता है और इनको एक साथ रख सकता है, तो वह प्रेम और सहयोग ही है, न कि बल और जोर-जबर्दस्ती। मनुष्य के भीतर होड़, प्रतियोगिता और लड़ाई की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर समाज में प्रेम और सहयोग न तो उत्पन्न किया जा सकता और न उसका संवर्धन किया जा सकता है। सर्वोदयी समाज-व्यवस्था ऐसे वातावरण में पैदा नहीं हो सकती, जहाँ जुल्म के यन्त्र पूर्णता को पहुँचा दिये गये हैं, और व्यक्तिगत स्वार्थ या मुनाफा कमाने का लोभ इतना बलवान् बन गया है कि उसने प्रेम और भ्रातृभाव को दबा दिया हो और समानता की भावना को नष्ट कर दिया हो। सर्वोदय को ऐसी समाज-रचना कायम करनी है, जिसके अन्दर संस्थाओं द्वारा सत्ता का प्रयोग अनावश्यक बना दिया जायगा, क्योंकि यह भी तो बल-प्रयोग का एक प्रतीक ही है। अथवा सत्ता के प्रयोग को इतना घटा दिया जायगा कि जो हमारी अहिंसा की यात्रा में एकदम अनिवार्य हो। मतलब यह कि सर्वोदय समाज में व्यवस्था तो चाहता है, परन्तु बल-प्रयोग द्वारा निर्माण की गयी व्यवस्था नहीं। वह मानता है कि स्वतंत्रता कहीं स्वच्छन्द और मनमानी का रूप धारण न कर ले, इसलिए संयम आवश्यक है। परन्तु यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य इतना अधम है कि वह बाहरी दबाव के बगैर समझ का या समाज के हित का काम करेगा ही नहीं। इसके विपरीत उसे तो विश्वास है कि अगर मनुष्य को आवश्यक शिक्षा मिल जाय, तो वह अपने-आप इतना संयम कर लेगा कि जिसमें बाहरी दबाव की जरूरत ही नहीं रहेगी। तब राज्य-

संस्था एक अनावश्यक वस्तु बन जायगी। परन्तु अगर कोई यह माने कि यह तो एक दूर की बात है, तो भी मनुष्य-समाज संयम की दिशा में ज्यों-ज्यों प्रगति करता जायगा, त्यों-त्यों राज्यसत्ता का उपयोग अवश्य ही घटता जायगा और वह सत्ता समाज की सेवा करनेवाली संस्थाओं के हाथों में पहुँचती जायगी, जिनको उसका उपयोग करने की आवश्यकता ही नहीं होगी; क्योंकि उनका बल तो प्रेम, सहयोग, समझाना-बुझाना और प्रत्यक्ष समाज-हित होगा।

इसलिए सर्वोदय-समाज एक ऐसी व्यवस्था होगा, जिसमें समाज की एकता अथवा प्रगति के लिए सत्ता के धारण करने और उपयोग की जरूरत नहीं होगी। ये काम वहाँ समझाने-बुझाने और सत्याग्रह के द्वारा होंगे। इसका प्रारम्भ एक साथ दो तरह से होगा। एक तरफ तो आज राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं के हाथों में जो सत्ता केन्द्रित है, उसका विकेन्द्रीकरण होगा और दूसरी तरफ जनता को सत्याग्रह के शास्त्र और कला की शिक्षा दी जायगी। क्योंकि समाज को सत्ता के दुरुपयोग से बचाने का यही अन्तिम और अमोघ उपाय है। हम सर्वोदय-समाज-रचना की तरफ बढ़ रहे हैं या नहीं, इसका अचूक लक्षण तो यह होगा कि राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण होकर किस गति से वह उत्तरोत्तर बल का प्रयोग न करनेवाली छोटी-छोटी संस्थाओं के हाथों में सौंपी जा रही है। यह विकेन्द्रित समाज सच्चे जनतंत्र और समानता का नमूना होगा। वास्तव में विकेन्द्रीकरण समानता और लोकतंत्र का प्राण है। क्योंकि सिद्धान्ततः लोकतंत्र का मतलब है, सबको समान अधिकार।

और केवल राजनैतिक सत्ता का ही नहीं, इसके साथ-साथ स्वामित्व के उन सब प्रकारों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जिनके कारण एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों पर सत्ता प्राप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ, उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर आदमियों का स्वामित्व नहीं होगा। जहाँ तक संभव होगा, उत्पादन के साधन पर उसे काम में लानेवाले आदमी का ही स्वामित्व होगा। जहाँ यह संभव नहीं होगा, वहाँ उन सबका मिलकर उस पर स्वामित्व होगा, जो उसे काम में लेंगे और फायदा उठायेंगे। इस प्रकार कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण नहीं कर सकेगा और न उत्पादन के साधनों का इस तरह उपयोग कर सकेगा कि जिसके कारण बहुसंख्यक मनुष्यों को निरे मजदूर बना दिया जा सके और मुट्ठीभर लोग निठल्ले पड़े रहें। इस समाज में कोई वर्ग नहीं होंगे, क्योंकि हर मनुष्य को परिश्रम करके अपनी रोजी कमानी होगी। उत्पादन के औजार इस तरह के बनाये जायेंगे कि प्रत्येक आदमी उन्हें अपने अधिकार में रखकर उनसे काम ले सकेगा। इसका नतीजा यह होगा कि न कोई किसीका शोषण कर सकेगा और न कोई वर्ग पैदा होगा। समाज के लिए उपयोगी और आवश्यक हर काम का मूल्य एक-सा होगा, चाहे वह दिमागी हो या शरीर-मेहनत का। इस समाज में पुराने जमाने से चले आये ऊँच-नीच के या जात-पाँत के भेद भी नहीं होंगे। वह स्वतंत्र और समान अधिकारवाले व्यक्तियों का समाज होगा, जिसके अन्दर हर आदमी अपनी जिम्मेवारी को समझेगा और संयम तथा सहयोगपूर्वक समाज की एकता की रक्षा करेगा। इसके सदस्यों

में पारिवारिक स्नेह होगा। व्यक्ति को सारे समाज और समाज को हर व्यक्ति का खयाल होगा। व्यक्ति और समाज का योगक्षेम अच्छी तरह से होकर वह अपनी नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति की साधारण जरूरतों की पूर्ति हो जाय। और इसके लिए सभी यत्नशील होंगे। परन्तु इस समाज में केवल भौतिक दृष्टि से संपन्न होना मुख्य लक्ष्य नहीं माना जायगा। मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति तभी हो सकती है, जब अमुक मात्रा में उसकी भौतिक जरूरतों की पूर्ति हो जाती है। भौतिक समृद्धि इस भीतरी प्रगति के लिए जिस मात्रा में आवश्यक है, बस उतना ही महत्त्व सर्वोदय उसे देता है।

आर्थिक और राजनैतिक पहलुओं को ही नहीं, बल्कि समस्त जीवन को स्पर्श करनेवाली यह मूलगामी सामाजिक क्रान्ति केवल आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं का रूप बदल देने भर से नहीं हो सकती, यह तो स्पष्ट ही है। इसके लिए हमें कहीं गहरे जाना होगा। मनुष्य की समग्र दृष्टि को और उसकी आदतों को बदलना होगा। समाज और व्यक्ति को प्रेरणा प्रदान करनेवाले तमाम मूल्यों और आदर्शों को बदल डालना होगा। यह मूलगामी क्रान्ति केवल धीरज के साथ और अनवरत यथार्थ लोक-शिक्षण से ही संभव होगी। परन्तु साथ ही हमें एक बात और करनी होगी। इन आदर्शों की सिद्धि में बाधक होनेवाली वस्तुओं को भी हटाना होगा। उदाहरणार्थ, समाज में कुछ पारस्परिक सम्बन्ध और आर्थिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ हैं,

जिनका वर्तमान स्वरूप इस लक्ष्य की सिद्धि में बाधक हो रहा है। उनके स्वरूपऔर रचना को हमें बदलना होगा। यह करने से हमारी सुधार की गति बढ़ जायगी। योजना के इस भाग में हम इस विषय पर विचार करेंगे और संक्षेप में बतायेंगे कि किन-किन आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं की रचना और स्वरूप में हमें क्या-क्या और कैसे-कैसे फेर-बदल करने होंगे।

वे लक्ष्य इस प्रकार हैं :

(१) समाज के हर सदस्य को पूरे समय का और पेट भरने लायक काम देना। इसके लिए समाज की समस्त अर्थ-रचना में आवश्यक परिवर्तन करना होगा। विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र को उत्पादन में लगा देना होगा। इसी प्रकार प्राप्ति और वितरण के सिद्धान्तों को भी नवीन समाज-रचना के अनुकूल बनाना होगा। ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी होगी कि हर बालिग स्त्री-पुरुष खुशी-खुशी काम करे। काम का चुनाव भी वह खुद ही कर सकेगा। परिश्रम निर्वाह का साधन तो होगा ही, क्योंकि समाज की भौतिक और सांस्कृतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु इसके अलावा भी शरीर के स्वास्थ्य और बौद्धिक एवं मानसिक विकास की प्रशिक्षा के लिए, जो कि वह जान में और अनजानमें पाता रहता है, काम करना आवश्यक है। काम से मनुष्य का व्यक्तित्व संपन्न, समृद्ध और पूर्ण बनता है। इसीकी मदद से वह अपने समाज की संस्कार-संपत्ति भी बढ़ाता है, जिससे वह नित्य भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन पाता रहता है। समाज का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक उपभोग्य सामग्री प्राप्त करने में मदद करे।

व्यक्ति अपने लिए जो काम या पेशा पसन्द करता है, वह अगर समाज के लिए हानिकर नहीं है तो, और समाज उसे अपने लिए उपयोगी स्वीकार कर लेता है, तो उस पेशे में आवश्यक कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी समाज व्यक्ति को दे। इसी प्रकार काम करने के औजार और साधन प्राप्त करने में भी समाज उसकी सहायता करे। समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करे कि जिससे मनुष्य अपनी रुचि के लायक काम या पेशे का चुनाव कर सके और वह काम उसे पूरे समय के लिए और पेट भरने लायक रोजी दे सके। इसके अलावा भी व्यक्ति को ऐसी अनुकूलताएँ मिलनी चाहिए, जिससे उसे अपनी बुद्धि का विकास करने का भी पूरा-पूरा अवसर मिले, ताकि वह अपनी शक्तियों का पूरा उपयोग करके समाज की सर्वांगीण उन्नति में सहायक हो सके। निःसन्देह इस तरह का काम मनुष्य को गिरानेवाला—उसे यन्त्र का एक निरा जड़ पुर्जा बना देनेवाला न हो, जो कि उसे निर्माण का अवसर न देकर उसके जीवन को निरानन्द बना देता है, बल्कि ऐसा हो कि जिससे उसकी बुद्धि को विकास का पूरा अवसर देकर उसके जीवन को आनन्द से भर देगा। उसे इस प्रकार के काम में एक प्रकार का सन्तोष और धन्यता मालूम होगी कि वह समाज की सेवा के लिए कुछ निर्माण कर रहा है।

बड़े-बड़े कारखानों में अत्यन्त जटिल यन्त्र होते हैं, जिनके अन्दर असंख्य पुर्जे होते हैं। उनके साथ काम करते-करते मनुष्य भी यन्त्र का-सा जड़ बन जाता है। यन्त्र की ही भाँति उसे एक निश्चित क्रिया करते रहना पड़ता है, जिसमें बुद्धि की कोई खास

जरूरत नहीं होती। कि। यउसे नये समाज में जो काम मिलेगा, वह इस प्रकार का न्चाहेगोगा। वहाँ उसे शुरू से आखीर तक एक काम खुद ही पूरा करे प होगा और इस काम का उसके जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होगा। और जहाँ यह सम्भव नहीं होगा, उसके साथ ऐसी प्रवृत्तियाँ जुड़ी हुई होंगी, जिनमें व्यक्ति प्रकृति के संपर्क में आकर जीवन के विकास से सम्बन्ध रखनेवाली प्रक्रियाओं के संपर्क में रह सकेगा और उनमें मदद कर सकेगा। इससे वह अनुभव करने लगेगा कि परिश्रम केवल रोजी कमाने का साधन नहीं है अथवा अन्न या फल-फूलों का उत्पादन केवल प्रकृति का शोषण नहीं, बल्कि उसकी रहस्यभरी क्रियाओं को समझने और जीवन की रक्षा करने और उसे समृद्ध करनेवाला आनंददायक काम हैं। खेती एक ऐसा पेशा है कि जिसके अन्दर मनुष्य प्रकृति में भरे अनन्त जीवन और अमरता के निकटतम संपर्क में आ सकता है। इसलिए आदर्श की दृष्टि से देखा जाय, तो मनुष्य अपने काम के लिहाज से खेती की प्रक्रियाओं में सीमित भाग भी ले, तो भी वह अनुभव करने लगेगा कि यह काम कितना आनन्ददायक और महत्त्वपूर्ण है।

पिछले अनुच्छेदों में जिस प्रकार के काम और रोजी व्यक्ति को दिलाने का वर्णन आया है, वह ऐसी योजना में नहीं दिलाई जा सकती, जिसके अन्दर औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य निश्चित करके उनको पूरा करने के लिए कार्यक्रम बनाने मात्र का यत्न होता है। पूरी रोजी देने के लिए तो प्रारम्भ दूसरी तरफ से करना होगा। उदाहरणार्थ, सबसे पहले निश्चय करना होगा कि हर व्यक्ति को पूरा काम और रोजी दी जायगी। फिर सारी उद्योग-

णाली को इस दृष्टि से बदलना पेशा कि वह बेकारी को पूरी तरह मिटाने में मददगार हो रहा है और अन्त में उन उद्योगों की कार्यशक्ति को बढ़ाना होगा, जो अधिक-से-अधिक लोगों को काम देने की शक्ति रखते होंगे। इस तरह दो दृष्टियों में मौलिक भेद है और यह स्वाभाविक है कि इसका असर प्रत्येक योजना के हर हिस्से और पहलू पर भी अवश्य होगा। एक योजना स्वभावतः उत्पादन की वृद्धि पर जोर देगी। वह कहेगी कि यह वृद्धि जल्दी-से-जल्दी होनी चाहिए। अतः कल-कारखाने बढ़ाने होंगे। संभव है, इनको अत्यधिक संख्या में भी बढ़ाना पड़े। यह पूँजीवादी पद्धति में ही संभव है। इनसे फिर पूँजी का केन्द्रीकरण स्वभावतः बढ़ेगा। इसमें निःसन्देह कुछ लोगों को काम मिल सकेगा। परन्तु वह तो अपने-आप होगा, क्योंकि उसमें असली हेतु सबको काम देना नहीं है, इसलिए बेकारी बनी ही रहेगी। अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी इस पद्धति में लोगों को मिलनेवाला रोजगार नाकाफी होगा। यह भी संभव है कि इस बढ़ती हुई आबादीवाले देश में पर्याप्त लोगों को रोजगार देने में वह योजना एकदम असफल भी सिद्ध हो। बहुत अधिक हुआ, तो वह बेकारों के आँसू पोंछने के लिए बेकारों को मदद के तौर पर कुछ टुकड़े दे दे अथवा इस भारी कारखानोंवाली समाज-व्यवस्था में, जो कि मनुष्य की अपेक्षा यन्त्रों पर अधिक निर्भर करेगी, कभी-कभी बेकारों को काम मिल जाय और कभी-कभी भूखों ही रहना पड़े। इसलिए ऐसी योजना से लाभ भले ही अंकों में कुछ भी बताया जाय, बहुत कम लोगों को हो सकेगा।

अब दूसरी योजना को लीजिये। उसका सबसे पहला लक्ष्य

होगा, बेकारी को मिटाना। यन्त्रों की अपेक्षा अधिक-से-अधिक उन्नति में [illegible] वह काम देना चाहेगी। आज जो पूरी तरह अथवा अ[illegible]ा हैं कि [illegible] हैं, उनको सबसे पहले पूरा काम देकर वह उनका जीव[illegible] अथवा[illegible] उठाना चाहेगी। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर [illegible]ैतिक सुखों का पुनःसंगठन करेगी और अधिक-से-अधिक मनुष्यों क[illegible] करत[illegible] देने की शक्ति रखनेवाले उद्योगों के यन्त्रों में आवश्यक स[illegible]र करेगी, ताकि वह कम-से-कम समय में अधिक और अच्छा उत्पादन दे सके। इस योजना का लाभ उन लोगों के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देगा, जो सबसे नीचेवाली सीढ़ी पर पड़े हैं। मुह[illegible]

चूँ[illegible]दय की समाज-रचना मुख्यतः विकेन्द्रीकरण पर आधारित ह और चूँकि उसमें उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर धनवानों, सत्ताधीशों या यंत्र-शास्त्र-विशारदों का अधिकार नहीं रह पायेगा, इसलिए बेकारी को मिटाने का अर्थ यह होगा कि हर आदमी अपने लिए काम करेगा। कोई किसीको रोजी नहीं देगा। सब अपनी-अपनी रोजी कमायेंगे। काम देनेवाला और काम पानेवाला शब्दों का प्रयोग तो उसी समाज में हो सकता है, जहाँ उत्पादन के साधन पर काम करनेवाले का स्वामित्व नहीं होगा। यह स्थिति ही नहीं रह पायेगी कि एक आदमी के पास उत्पादन के साधन हैं, पर वह खुद उनसे काम नहीं करता और दूसरा काम करता है, परन्तु उसके पास अपने औजार नहीं। काम करनेवाले के अपने औजार या यन्त्र होंगे और वह समाज द्वारा मंजूर तंत्र की मदद से अपने उत्पादन को बेचने का प्रबन्ध कर सकेगा। उत्पादन के साधन इस प्रकार के होंगे कि जिनके प्रयोग

में मनुष्य को बुद्धि-शक्ति और समय का उपयोग करने का अवसर मिल सकेगा। और वह ऐसी ही चीजें बनायेगा जो लोगों के के लिए उपयोगी होंगी। मतलब यह कि काम देनेवाले लोगों को काम करनेवाला, यह सम्बन्ध ही सर्वोदय-समाज में नहीं होगा, क्योंकि यही चीज तमाम बुराइयों की जड़ है। पूँजीवाद अन्याय की जननी है और साम्यवादी समाज, जहाँ उत्पादन के समस्त कारखानों और साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, वह मनुष्य को निरा गुलाम बना देती है।

परन्तु मान लीजिये कि उत्पादन के कुछ साधन ऐसे भी होंगे, जिन पर व्यक्तियों का स्वामित्व नहीं हो सकता, वहाँ उन पर सहकारी संस्थाओं, ग्राम-संस्थाओं या राज्य को स्वामित्व होगा। परन्तु यत्न तो यही होगा कि मनुष्य को दूसरें के अधीन होकर काम न करना पड़े। अतः सर्वोदय-समाज के अन्दर बेकारी मिटाने के मानी होंगे, लोग आम तौर पर खुद अपना-अपना काम करेंगे। किन्तु जिन उद्योगों में आर्थिक कारणों से या यंत्रसम्बन्धी कठिनाई के कारण यह सम्भव नहीं होगा, वहाँ सहकारी संस्थाओं के जरिये काम होगा। मतलब यह कि लोग हिल-मिलकर एक-दूसरे को काम देनें का प्रवन्ध करते रहेंगे। स्पष्ट ही तमाम लोगों को तब तक काम नहीं दिया जा सकता, जब तक कि उत्पादन को विकेन्द्रित नहीं किया जायगा और मनुष्य को यन्त्र की गुलामी से छुड़ाने के लिए यंत्रों में भी आवश्यक सुधार नहीं किया जायगा।

(२) यह निश्चित कर लेना है कि समाज के हर सदस्य की तमाम आवश्यक जरूरतों की पूर्ति हो जाय, जिससे कि वह अपने

व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास कर सके और समाज की उन्नति में भी उचित योगदान कर सके। पहले ही बताया जा चुका है कि सर्वोदय में समाज की उन्नति के लिए यह कोई अनिवार्य अथवा मुख्य शर्त भी नहीं कि मनुष्य को अधिक-से-अधिक भौतिक सुख मिलने ही चाहिए। वह इस विचार को भी पसन्द नहीं करता कि उत्पादन को खूब बढ़ाकर उसके लिए बाजारों पर कब्जा किया जाय और मनमाना मुनाफा कमाया जाय। इसी प्रकार यह भी अच्छा नहीं कि मनुष्य अपनी जरूरतों को असीम बढ़ा ले और फिर कारखानेदारों या सर्वशक्तिमान् राज्य का मुहताज बन जाय। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जो अर्थ-व्यवस्था अपने सेव्य समाज की प्राथमिक जरूरतों की पूर्ति करने की भी परवाह नहीं करती, उसे यह आशा नहीं करनी चाहिए। उस समाज में शान्ति, स्थिरता, न्याय समानता और अहिंसा की रक्षा हो सकेगी। जीवन की अत्यावश्यक जरूरतों की पूर्ति की सामग्री भी पैदा न करना विषमता, पक्षपातपूर्ण वितरण, अन्याय, अरक्षा और सामाजिक उथल-पुथल को सीधा निमन्त्रण देना है। इसलिए सर्वोदय की अर्थ-व्यवस्था में इस बात का खयाल सबसे पहले रखा जायगा कि कम-से-कम जीवन की अनिवार्य रूप से आवश्यक वस्तुएँ पैदा कर ली जायँ, ताकि सबको बुनियादी जीवन-मान उपलब्ध हो जाय। इसके लिए उत्पादन के साधनों में सुधार और उत्पादन की पद्धतियों का संगठन नये सिरे से करना होगा। हिसाब लगाकर देखा गया है ("ठेठ नीचे से निर्माण"—खादी बोर्ड का प्रकाशन) कि भारत में लोगों की आदतें जैसी बन गयी हैं, उनको देखते हुए एक

साधारण परिवार की अन्न, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा और मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए १९५५ के मूल्य-निर्देशांक के अनुसार वार्षिक ३०००) जितनी आय होनी चाहिए। इतनी आय में परिवार को नीचे लिखी चीजें मिल सकेंगी :

एक परिवार की वार्षिक जरूरतें

	वस्तु	दैनिक जरूरत	कीमत रु० में	योग
अ	१ अनाज	८० औंस	३००–०–०	
	२ दालें	२० ,,	५०–०–०	
	३ दूध	६० ,,	१८०–०–०	
	४ सब्जी	४० ,,	२००–०–०	
	५ घी-तेल	१२ ,,	३५०–०–०	
	६ मछली, अण्डा, मांस या उतने ही पोषक तत्त्व के शाकाहारी पदार्थ	२० औंस	४५०–०–०	
	७ फल	३० ,,	१५०–०–०	
	८ गुड़-चीनी	२० ,,	१००–०–०	
	९ मसाले	——	२०–०–०	
				१८००–०–०

	वस्तु	कीमत	योग
आ	कपड़े—ओढ़ना-बिछौना	२५०–०–०	
इ	मकान की मरम्मत वगैरा	१७५–०–०	
ई	स्वास्थ्य-रक्षा, दवा	१७५–०–०	
उ	वृद्धावस्था के लिए व्यवस्था	१००–०–०	
ऊ	शिक्षा, पुस्तकें	२००–०–०	
ए	मनोरंजन—अन्य	३००–०–०	
			१२००–०–०
			३०००–०–०

एक साधारण परिवार की यह कम-से-कम आवश्यकता है, जिसे एक निश्चित समय के अन्दर पूरी करने का यत्न योजना को करना चाहिए। लेकिन आज एक परिवार की जो औसत आय है, उसे तथा निम्नतम मूलभूत आवश्यकताओं के बीच इतनी बड़ी दरार है कि अल्प अवधि के भीतर उसे किसी भी योजना से, यदि वह भारी उद्योगों को आधार मानकर चले, अथवा विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था को आधार मानकर चले, पाटा नहीं जा सकता। फिर भी ऐसा कोई संयोजन तो करना ही होगा, जिससे हम अधिक-से-अधिक परिवारों को निश्चित अवधि के भीतर इस मूलभूत आवश्यकता के स्तर तक पहुँचाने में सफल हो सकें। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समय निर्धारित कर लेना होगा और संयोजन-काल के भीतर उपलब्ध साधनों का विचार कर क्रम-क्रम से आगे बढ़ने पर कार्य सफल हो सकेगा। समाज की इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें कितना परिश्रम और तरक्की करनी होगी, इसका अन्दाजा एक इसी बात से हो सकता है कि आज भारत में औसत मनुष्य की आय सालाना १३२०) है। जिनकी आय ३६००) से ऊपर है, ऐसे परिवार देश में केवल ५९·२ लाख हैं। यह हमारे देश की आबादी का केवल ७·४ प्रतिशत है। इसलिए योजना इतना उत्पादन बढ़ाने और सेवाएँ उपलब्ध करने का यत्न करेगी कि यह ९२·६ प्रतिशत आबादी ७·४ प्रतिशत के-से जीवन-मान को प्राप्त कर सके। इसके लिए उनकी क्रय-शक्ति बढ़ानी होगी। अंकों की औसतें कितनी धोखा देनेवाली होती हैं, इसका अध्ययन करने पर यह बात और भी साफ हो जायगी। नीचे कुछ अंक दिये

गये हैं*। दूसरी बार के नेशनल सैंपल सर्वे में दी गयी जानकारी से इनको हिसाब लगाकर प्राप्त किया गया है। वे इस बात को सिद्ध करते हैं कि अंकों में जो प्रगति बतायी जाती है, वह नीचे के स्तर के गरीब तक पहुँच ही नहीं पाती। इसलिए अगर देश की हालत सुधारनी है, तो जो भी योजना हो, उसे सबसे पहले इन ९२·६ प्रतिशत की तरफ ध्यान देना चाहिए, जिनकी आय ३६००) से कम है।

परिवारों का वर्गीकरण

वार्षिक खर्च रुपयों में	परिवार संख्या लाखों में	कुल आबादी का प्रतिशत
६००) तक	१६३·२	२०·४
६००) से १२००)	२४९·६	३१·२
१२००) से १८००)	१६८·८	२१·१
१८००) से २४००)	८३·२	१०·४
२४००) से ३६००)	७६·२	९·५
३६००) से ऊपर	५९·२	७·४
	८००·२	१००·०

(३) जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के विषय में यह कोशिश हो कि प्रत्येक प्रदेश स्वावलम्बी हो। सर्वोदय-योजना का लक्ष्य यह भी होना चाहिए कि जीवन की प्राथमिक जरूरत की चीजें जहाँ तक संभव हो, हर गाँव और प्रदेश-विशेष खुद ही पैदा कर लिया करें। बेशक इसमें भौगोलिक और कच्चे माल की

* ऑल इंडिया खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड, बम्बई द्वारा प्रकाशित "बिल्डिंग फ्रॉम विलो" से उद्धृत।

सुलभता का प्रश्न तो रहेगा ही। अन्न-वस्त्र जैसी अत्यावश्यक चीजों के बारे में स्वावलम्बी होना परमावश्यक होगा। एक प्रदेश की जनता स्वेच्छापूर्वक यह निश्चय कर सकती है कि वह कौन-कौन-सी चीजें कितनी मात्रा में बाहर से मँगायेगी। दूसरी तरफ योजना खुद अमुक प्रदेश में स्वावलम्बन निर्माण करने का यत्न कर सकती है। स्वभावतः इन दो यत्नों में निश्चित अन्तर होगा। योजना द्वारा स्वावलम्बन का जो प्रयास होगा, उसमें ऐसी अनुचित कड़ाई नहीं होगी कि जीवन की जरूरी चीजें भी वहाँ बाहर से न पहुँचने दी जायँ और समाज का जीवन एकदम जंगलियों का-सा बन जाय। अन्न-वस्त्र जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं को छोड़कर बहुत-सी ऐसी चीजें होंगी, जिनको एक प्रदेश दूसरे प्रदेश से ले सकेगा। इसी प्रकार गाँवों और प्रदेशों के बीच बौद्धिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी अवश्य होता रहेगा। किन्तु इस आदान-प्रदान का आधार प्रेम, सेवा और सहयोग होगा। जिस चीज को हमें मिटाना है, वह है परावलम्बन, जिससे शोषण को मौका मिलता है और आलस बढ़ता है।

जहाँ प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं होगी, ऐसे क्षेत्रों में प्राथमिक आवश्यकताओं के विषय में स्वावलंबन की दिशा में सबसे पहले अन्न, कपड़ा, मकान, प्राथमिक शिक्षा और साधारण बीमारियों का इलाज, इन बातों में समाज को स्वावलम्बी बनाने का यत्न किया जायगा। जहाँ इसकी प्राकृतिक अनुकूलताएँ न होंगी, वहाँ कमीवाले गाँवों के ऐसे ग्राम-मण्डल बना दिये जायेंगे, जो सहयोग, विनिमय और सबकी उपज को इकट्ठा करके अपनी कमी को पूरी कर लेंगें। जहाँ यह भी संभव न हो,

वहाँ वे गाँव या क्षेत्र-विशेष अपने साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग करके तथा अन्य ग्राम-उद्योगों की व्यवस्था करके शेष कमी की पूर्ति उस प्रदेश की योजना में से कर सकते हैं।

जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के विषय में स्वावलंबन के आदर्श का अर्थ—जैसा कि ऊपर बता दिया गया है—यह नहीं कि सख्ती के साथ भौगोलिक बाड़ें खींच दी जायँ। स्वावलम्बी इकाइयाँ ऐसी अनेक चीजों के बारे में एक-दूसरे की पूर्ति कर दिया करेंगी, जो जीवन की प्राथमिक जरूरतें नहीं होंगी। बात यह है कि प्राथमिक जरूरतों के बारे में अधिक समय तक दूसरे पर निर्भर करने से व्यक्ति की भाँति परावलम्बी प्रदेशों की जनता के भी स्वाभिमान और स्वतन्त्रता को निश्चय ही हानि पहुँचती है। उसकी ये जरूरतें पूरी करनेवाले प्रदेश उसके साथ भेदभाव का बर्ताव और शोषण करने लगेंगे। परस्परावलंबन वहीं निर्दोष और लाभदायक हो सकता है, जहाँ ऐसा सम्बन्ध रखनेवाले समाज प्राथमिक जरूरतों के मामले में पूरी तरह स्वावलम्बी होते हैं।

(४) यह भी निश्चय करना होगा कि उत्पादन के साधन और क्रियाएँ ऐसी न हों, जो प्रकृति का शोषण निर्मम बनकर कर डालें। उत्पादन में प्राणिमात्र के प्रति आदर और आनेवाली पुश्तों की जरूरतों का खयाल रखना भी परम आवश्यक है। प्राकृतिक संपत्ति का उपयोग करते समय तात्कालिक लाभ के लालच में दूरवर्ती—लम्बे लाभ-हानि को भुला देना समझदारी की बात नहीं होगी। इसलिए अगर उत्पादन की किन्हीं क्रियाओं और पद्धतियों से ऐसी प्राकृतिक संपत्ति का नाश हो रहा हो कि

जिसकी पूर्ति आगे होने की संभावना न हो, तो इस बात को पूरी तरह समझकर जहाँ सारे मानव-समाज का हमेशा के लिए हित-साधन संभव हो, ऐसे ही प्रसंगों और कार्यों के लिए इनका उपयोग किया जाय। इसलिए उत्पादन की किन पद्धतियों क्रियाओं और साधनों से काम लिया जाय, इसका निर्णय समस्त मानव-जाति की जरूरतें और युगों से मानव-समाज ने जो सांस्कृतिक मूल्य निश्चित कर रखे हैं, उनका विचार करके ही किया जाय। प्राकृतिक संपत्ति के उपयोग के साथ-साथ, जहाँ तक मनुष्य के लिए संभव है, इसे पुनः लौटाने की क्रिया भी चलती रहनी चाहिए।

अतः नयी योजना में मनुष्य अपने आसपास की और उसकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित तथा प्रभावित समस्त जीव-सृष्टि की रक्षा करना और उसकी सेवा का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझेगा।

अगर योजना के उद्देश्य और लक्ष्य ये हैं, तो उसकी रूपरेखा और अमल भी इनको कार्यान्वित करने की दृष्टि से ही होना चाहिए। तदनुसार योजना बेकारी को एकदम मिटाना चाहती है। अतः अधिक-से-अधिक लोग रोजी कमाने खुद लग जायँ, यह यत्न करना है। योजना का यत्न है कि समाज के व्यक्तियों का जीवन-मान एक निश्चित न्यूनतम सीमा तक तो जरूर उठ जाय और यह जीवन-मान एक धोखा देनेवाली औसत न हो, बल्कि ऐसा हो, जो देश की आबादी की ९२·६ प्रतिशत में कोई कहीं भी जाकर इसकी जाँच करके देख ले। योजना हर स्थान के प्राकृतिक साधनों और मानव-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करके और जहाँ संभव होगा, स्वावलम्बी इकाइयों को सहकारी पद्धति

से जोड़कर वहाँ स्वावलम्बन बढ़ाने का यत्न करेगी। इसका मतलब यह है कि हर स्थान के लोग—केवल लोग ही नहीं, प्रत्येक परिवार के सदस्य भी—समझ-बूझकर और स्वेच्छापूर्वक योजना के बनाने और अमल में कदम-कदम पर एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे। इसलिए ऐसी योजना इने-गिने विशेषज्ञों की मदद से राष्ट्र की राजधानी में बैठकर न तो बनायी जा सकती है और न उसका अमल केवल सरकारी सूत्रों के माध्यम से सम्भव है। इसलिए जब तक समस्त बेकार या अंशत: बेकार मनुष्यों को रोजी देनी ही है, इस निश्चय के साथ ऊपर बताये अनुसार योजना बनाकर उस पर अमल नहीं किया जायगा, तब तक केवल उत्पादन के लक्ष्य अंकों में निर्धारित करके यंत्रों की सहायता से उन्हें पूरा कर देनेभर से इष्ट परिणाम नहीं आयेंगे। अतः योजना को अपनी सफलता के लिए सबसे पहले गाँवों की जनता के समझ और उत्साहभरे सहयोग पर निर्भर करना होगा। उसे केवल "सार्वजनिक सहयोग" से सन्तोष न मान लेना चाहिए। योजना खुद लोगों को बनानी और पूरी करनी होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सबसे पहले हर गाँव के लोगों को यह बात समझानी होगी कि क्यों सर्वोदय की समाज-व्यवस्था कायम करने की जरूरत है और इस योजना के आधारभूत सिद्धान्त क्या होंगे। अपने गाँवों की आर्थिक और सब तरह की उन्नति की योजना बनाने की न केवल विधि लोगों को बतानी होगी, बल्कि योजना के प्रत्यक्ष बनाने और अमल में उनकी सहायता करनी होगी। स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के अनुसार आगे बढ़ना है, तो इसके सिवा दूसरी पद्धति हो ही नहीं सकती।

वही योजना वास्तविक और लोकतांत्रिक होगी, जब वह खुद उन लोगों द्वारा बनायी जायगी, जिन्हें अपनी मुसीबतों का ज्ञान है, जिन्हें अपने प्राकृतिक साधनों का और मनुष्य-बल का पता है, जिन्हें खुद योजना को कार्यान्वित करना है और जो हर कदम पर खुद अपने और ग्रामीणों के जीवन में होनेवाले सुधार और भलाइयों को देखकर यह पता लगा सकते हैं कि हम सफलता की तरफ आगे बढ़ रहे हैं या नहीं। यह योजना ऐसी नहीं होगी, जिसके बनाने में तो लोगों का कोई हाथ न हो, किन्तु जिसको पूरा करने के लिए लोगों को याद किया जाता है। सच्ची योजना तो लोगों से कहेगी कि योजना बनाना और उसे पूरी करना, यह वास्तव में आपका ही अपना काम है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, योजना का यह प्रयत्न होगा कि हर परिवार की आय पहले तो सालाना ३०००) तक बढ़ जाय। हम देख चुके हैं कि आय के अनुसार परिवारों की संख्या इस प्रकार है:

६००) तक वार्षिक आयवाले		१६३·२ लाख
६००) और १२००) के बीच की आयवाले		२४९·६ लाख
१२००) और १८००)	,, ,,	१६८·८ ,,
१८००) और २४००)	,, ,,	८३·२ ,,
२४००) और ३६००)	,, ,,	७६·२ ,,

इसलिए योजना पहले सबसे अधिक ध्यान सबसे कम आयवाले परिवारों की हालत सुधारने पर देगी और यत्न करेगी कि एक निश्चित समय के अन्दर उनकी आय उनसे ऊपर की सीढ़ी-वाले लोगों के बराबर हो जाय। फिर इन दो सम्मिलित वर्गों

की तरफ विशेष ध्यान देकर उनसे ऊपर की श्रेणी की बराबरी में लाने का यत्न किया जायगा। इस तरह करते-करते एक उचित अवधि के भीतर सबको ३०००) वार्षिक आय तक—जो कि एक साधारण जीवन-मान के लिए कम-से-कम आवश्यक आय मानी गयी है—लाने का यत्न किया जायगा। इस कार्यक्रम के अनुसार सबसे पहले ६००) वार्षिक से कम आयवाले वर्ग को हाथ में लेकर आगे बढ़ा जायगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरों के लिए कुछ नहीं किया जायगा। वास्तव में इन नीचे के स्तरों की वास्तविक आय तब तक बढ़ ही नहीं सकती, जब तक कि समाज का उत्पादन प्रत्यक्ष रूप से नहीं बढ़ेगा। इसलिए योजना के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन को इस तरह बढ़ाने का यत्न किया जायगा कि सबसे नीचे के स्तरवाले परिवारों को आवश्यक मात्रा में जरूरत की चीजें मिल सकें और उनका जीवन मान ऊँचा हो सके। इस तरह उत्पादन और रोजगारी साथ-साथ-बढ़ते जायँगे और इनका मेल न्यायपूर्ण बँटवारे के साथ बैठा दिया जाता रहेगा।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि सर्वोदय की योजना, जो बेकारी को एकदम मिटाना चाहती है और उद्योगों का संगठन विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहती है, धन-प्रधान नहीं, श्रम-प्रधान होगी।

इसी प्रकार अगर जनता को ही अपनी योजना बनानी है और उसीको उसे सफल भी करके दिखानी है, तो योजना का बुनियादी छोटा क्षेत्र एक सुगठित भौगोलिक भाग होगा। क्योंकि क्षेत्र के साधनों और जरूरतों की ठीक-ठीक और सही

जानकारी के आधार पर ही तो योजना बनायी जा सकती है। इसलिए योजना का बुनियादी क्षेत्र एक गाँव ही हो सकता है। अतः अपने गाँव की योजना खुद वहीं के लोग बनायेंगे और वही उसे कार्यान्वित भी करेंगे। हाँ, इसके लिए अगर किसी जानकारी, सलाह या यन्त्र चलानेवाले आदमियों की जरूरत होगी, तो इनको वे बाहर से ला सकते हैं। ग्राम का समाज यह प्रयत्न करेगा कि गाँव के तमाम लोगों को रोजगार मिल जाय और प्रत्येक परिवार की आय कम-से-कम ३०००) सालाना तक पहुँच जाय। संभव है, किन्हीं-किन्हीं गाँवों के पास पर्याप्त प्राकृतिक या अन्य साधन न भी हों और इस कारण वे उत्पादन का ऐसा कार्यक्रम अपने लिए न बना सकें। तब उन्हें किस प्रकार अन्य गाँवों या क्षेत्रों के साथ मिल जाना चाहिए और इसी प्रकार यदि क्षेत्र भी इन्हीं कठिनाइयों का अनुभव करें, तो उन्हें दूसरे क्षेत्रों या प्रदेशों से मिलकर या ठेठ केन्द्र से किस प्रकार सहायता लेनी चाहिए और केन्द्र या प्रदेशों को किस प्रकार एक-दूसरे की सहायता करनी चाहिए तथा किस प्रकार उत्पादन की योजना राष्ट्र की जरूरतों को देखकर ही बनानी चाहिए इत्यादि के विषय में हम ऊपर चर्चा कर ही चुके हैं। इसलिए गाँवों की योजनाओं का सारे देश की योजनाओं के साथ मेल बैठाने के लिए क्षेत्रीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय योजना-परिषदों को पूरा-पूरा यत्न करना होगा। इसलिए ग्रामीण योजना-समिति से ऊपर की तमाम योजना-परिषदों का यह कर्तव्य होगा कि उनकी मातहत की किसी भी समिति या परिषद् के क्षेत्र को प्राकृतिक या मनुष्य-बल के अभाव में जीवन की किसी भी वस्तु के अभाव का कष्ट

न उठाना पड़े। यदि प्राकृतिक साधनों की कमी मनुष्य के यत्न से दूर होने लायक हो, तो उसे अवश्य दूर कर दिया जाना चाहिए। राष्ट्रीय और प्रादेशिक परिषदों को ध्यान रखना होगा कि पिछड़ेपन के कारण कोई क्षेत्र लगातार पिछड़ा हुआ न बना रहे।

अगले अध्यायों में बताया जायगा कि ग्राम-योजना-समितियाँ और प्रादेशिक योजना-परिषदें किस प्रकार अपनी योजनाएँ बनायें। इन अध्यायों में यह भी बताया जायगा कि हमारी कल्पना की समतायुक्त, शोषण-रहित और विकेन्द्रित आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना करने के लिए हमारी वर्तमान आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं में एवं सामाजिक सम्बन्धों में तत्काल और क्रमशः क्या-क्या सुधार और परिवर्तन करना जरूरी है।

◆ ◆ ◆

: २ :

भूमि का स्वामित्व

जमीन और अन्य प्राकृतिक साधन उत्पादन के सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। मनुष्य की बुनियादी जरूरतों में अन्न से बढ़कर कोई नहीं। जमीन सबके लिए अन्न पैदा करती है। इसी प्रकार वह करोड़ों को रोजगार भी देती है, जो जमीन पर काम करके सबके लिए अन्न पैदा करते हैं। खनिज और प्रकृति से मिलनेवाले अन्य पदार्थ उद्योगों का कच्चा माल हैं। किन्तु इनमें काम करनेवाले भी तो मनुष्य ही होते हैं, जिन्हें शरीर-धारण के

लिए जमीन पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्न, कपड़ा, मकान आदि के उत्पादन के लिए जमीन तथा प्राकृतिक संपत्ति का किस प्रकार उपभोग किया जाता है तथा इसके सम्बन्ध में किसको क्या-क्या अधिकार हैं, यह वहुत महत्त्वपूर्ण बात है। क्योंकि इन अधिकारों पर से ही तो देखा जा सकता है कि अमुक समाज-व्यवस्था में न्याय, अन्याय, समानता और विषमता की परिभाषाएँ क्या हैं। तो मनुष्य की सबसे जरूरी आवश्यकताएँ पूरी करने का सबसे बड़ा साधन जमीन है। अगर इस पर मुट्ठीभर आदमी कब्जा करके बैठ जाते हैं और अगर सिवा इस नाजायज कब्जे के जमीन के इस स्वामित्व तथा उससे मुनाफा कमाने के लिए उन्हें अन्य कोई अधिकार नहीं है, और दूसरी तरफ करोड़ों आदमी ऐसे हैं, जिनको अपनी रोजी कमाने के लिए दिन-रात पसीना वहाना पड़ता है, जमीन पर काम करने से मना किया जाता है अथवा काम लेकर पूरी मजदूरी नहीं दी जाती, तो ऐसे समाज में न तो किसीको न्याय मिल सकता है और न समाज के प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा उपयोग सबके लिए हो सकता है। इसलिए न्याय और समानता की स्थापना करने की इच्छुक समाज-व्यवस्था में जमीन और प्राकृतिक साधन किसी की खानगी संपत्ति नहीं बनने दिये जा सकते।

हम देख चुके हैं कि सर्वोदय-समाज-व्यवस्था में न कोई रोजी देनेवाला होगा, न कोई पानेवाला। हर आदमी स्वतन्त्र रूप से काम करेगा। हमने यह भी देखा कि उत्पादन के साधनों पर मुट्ठीभर आदमियों का स्वामित्व नहीं होगा। क्योंकि इससे उन्हें शोषण करने का अवसर मिल जाता है। इसलिए उस व्यवस्था में

जमीन ऐसी वस्तु नहीं रह जायगी, जिसका कोई मालिक कहा जा सके या जो उसे खरीद या बेच सके। वह एक प्राकृतिक संपत्ति है, जिस पर अधिकार समाज का होगा। समाज ही सबके लिए अन्न उपजाने के लिए उसका उपयोग करेगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि आज गाँवों की जो सीमाएँ हैं, वे ज्यों की त्यों बनी रहेंगी और इनके अन्दर रहनेवाले लोग अपने-आप उसके विश्वस्त बन जायँगे। हमारे बहुत-से गाँव जैसे-तैसे बस गये हैं। वे अच्छी आर्थिक इकाइयों के रूप में काम नहीं कर सकते। इसलिए सक्षम सामाजिक और आर्थिक इकाइयाँ बनाने के लिए उनको बढ़ाना होगा, एक को दूसरे से जोड़ देना होगा या उनकी सीमाओं में फेरफार करने होंगे। निःसन्देह इसमें लोगों को योजनापूर्वक यहाँ का वहाँ और वहाँ का यहाँ भी बसाना होगा। हाँ, और खुद लोग भी अपनी इच्छा से एक गाँव से दूसरे गाँव में जाकर बस सकेंगे, बसेंगे ही।

हर आदमी, जो अपने लिए और अपने परिवार के लिए अनाज उत्पन्न करने की इच्छा रखता हो या समाज के लिए पर्याप्त अन्न उत्पन्न करने में मदद करना चाहता हो, उसे जमीन पर काम करने का अधिकार होना ही चाहिए। गाँव-सभा यह प्रबन्ध करेगी कि जमीन पर काम करने की इच्छा रखनेवाले हर ग्रामीण को इसके लिए जमीन का एक टुकड़ा मिल जाय। इस जमीन को वह गाँव की तरफ से अपने पास रखेगा, उस पर खेती करेगा और अपने परिश्रम का उपभोग खुद करेगा। परन्तु इस जमीन को वह बेच नहीं सकेगा, किसीको दे भी नहीं सकेगा, बल्कि गाँव की इजाजत के बगैर अपने उत्तराधिकारी को भी

मृत्यु-पत्र द्वारा नहीं दे सकेगा। यद्यपि जमीन पर कानूनी स्वामित्व तो गाँव का होगा, पर इसके अलावा जब तक वह जीयेगा और उस पर काश्त करता रहेगा, जमीन इसी तरह उसके पास रहेगी, मानो वह उसका स्वामी ही हो। यही नहीं, अगर उसके उत्तराधिकारियों में से कोई जमीन पर काम करना चाहेगा और गाँव-सभा से विनती करेगा कि जमीन उसके पास रहने दी जाय, तो गाँव-सभा उसके पास जमीन रहने देगी—जब तक कि जमीन उसे न देने के लिए गाँव-सभा के पास कोई जोरदार कारण न हो।

हर गाँव-सभा अपने गाँव की सीमा में आनेवाले रकबे का सर्वेक्षण करेगी। इसके बाद गाँव के चरागाह, वन-विकास, वृक्षारोपण, ईंधन तथा ओषधि के लिए एवं आवश्यक सार्वजनिक उपयोग की जमीन छोड़कर खेती की उपयोगी शेष जमीन को वह खेती करने की इच्छा रखनेवाले परिवारों में समानतापूर्वक बाँट देगी। परन्तु यह बँटवारा हमेशा के लिए नहीं होगा। गाँव-सभा समय-समय पर गाँव की स्थिति और बँटवारे का पुनर्निरीक्षण और जमीन का पुनर्वितरण करती रहेगी। समय-समय पर भूमि के पुनर्वितरण की यह पद्धति भारत के लिए नयी नहीं है। अन्य देशों में भी यह पद्धति प्रचलित है। समय-समय पर यह वितरण इसलिए आवश्यक है कि लोगों के साथ अन्याय न हो, क्योंकि खेती करने की इच्छा रखनेवालों की संख्या में घटती-बढ़ती होती ही रहती है। इस संख्या के घटने-बढ़ने के कारण कई हो सकते हैं, जैसे आबादी का बढ़ना, नये उद्योगों का खुलना, जिसकी वजह से नये और पूरक धन्धों का उपलब्ध हो जाना, और नयी जमीन का काश्त के लिए उपलब्ध हो जाना।

खनिज संपत्ति

खानें और अन्य खनिज संपत्ति पर भी खानगी स्वामित्व नहीं रहेगा। इसी प्रकार उनका स्वामित्व अगर केवल छोटी-छोटी गाँव-सभाओं के हाथों में भी रहे, तो वे भी इस साधन-संपत्ति का समाज के लिए पूरा-पूरा उपयोग न कर सकेंगी। इसलिए इनका प्रबन्ध प्रादेशिक या केन्द्रीय योजना परिषद् के हाथों में रहेगा।

खेती की पद्धति

जहाँ-जहाँ संभव होगा और लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेंगे, खेती सहकारी पद्धति से होगी। परन्तु चकबन्दी करके सहकारी संस्थाओं में शरीक होने के लिए जनता पर किसी प्रकार का दबाव—अप्रत्यक्ष अथवा सूक्ष्म दवाव भी नहीं डाला जायगा। आज भी खेती के कई काम किसान आपस में मिल-जुलकर कर ही लेते हैं। गाँव-सभा इस पद्धति को प्रोत्साहन देगी, और ऐसे सहयोग के नये मार्ग बना देगी, उसे संस्था का रूप देकर शास्त्रीय ज्ञान की मदद से व्यवस्थित भी कर देगी, जिससे वह आकर्षक और किसान के लिए अधिक लाभदायक बन जाय। ये सहकारी संस्थाएँ हर किसान को अच्छे औजार, बैल, सुधरा हुआ बीज और खाद उपलब्ध कर देंगी तथा फसलों को बीमारी से बचाने और उपज को बेचने में भी मदद करेंगी।

खेती के औजार और बैल किसान के अपने ही होंगे। खेती की क्रियाएँ किसान या तो खुद अपने परिवार के सदस्यों को साथ लेकर करेगा या गाँव के लोगों की मदद ले लेगा। अथवा अगर वह किसी सहकारी संस्था या सामूहिक खेती में शरीक होना

पसंद करेगा, तो संस्था के सदस्य मिलकर ये क्रियाएँ कर लेंगे।

जहाँ-जहाँ उचित और आवश्यक माना जायगा और जहाँ-जहाँ किसान खुद बड़ी संख्या में चाहेंगे कि खेती सहयोग-पद्धति से होनी चाहिए, वहाँ-वहाँ सहकारी संस्थाएँ अथवा सामूहिक क्षेत्र स्थापन कर दिये जायँगे। परन्तु किसानों को ऐसी संस्थाओं में शरीक होने के लिए कभी मजबूर नहीं किया जायगा—गाँव के अधिकांश लोग उसके सदस्य बन जायँगे, तो भी नहीं। इसके विपरीत जो अकेले ही खेती करना चाहेंगे, उन्हें खुशी से अलग रहने दिया जायगा, बल्कि जितनी संभव होगी, सहकारी संस्थाएँ उसकी मदद ही करेंगी।

सहकारी संस्थाओं और सामूहिक खेती के क्षेत्रों में भी जो किसान अपनी जमीन, साज-सामान और अन्य साधन सम्मिलित संपत्ति में मिलाकर सहकारी संस्था या सामूहिक खेती का क्षेत्र बनायेंगे, वे भी इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखेंगे कि खेती के तमाम काम-काज की हालत कहीं बिगड़ने न पाये—कहीं वहाँ भी कोई मालिक न बन जाय और शेष मजदूरों की हालत में न पहुँचा दिये जायँ।

जब कभी गाँव की खेती के रकबे में वृद्धि होगी, तो गाँव-सभा या तो प्रत्येक किसान के रकबे में वृद्धि कर देगी या नये रकबे की काश्त खुद ही अपनी देखभाल में करायेगी।

भारत जैसे घनी आबादीवाले देश में यदि बढ़ती हुई आबादी के साथ कदम मिलाते हुए चलना है, तो यहाँ की फी एकड़ औसत उपज को भी बढ़ाना ही होगा। ऐसी बढ़ी हुई उपज तो तभी उपलब्ध हो सकती है और कायम रखी जा सकती है, जब

खेती गहरी हो और उसके साथ पशु-पालन भी हो। बड़े-बड़े विशाल खेत और राक्षसी ट्रैक्टर जैसी मशीनें हमारी समस्या को हल नहीं कर सकते। प्राकृतिक साधनों और मनुष्य-बल का आज ठीक-ठीक उपयोग नहीं हो पा रहा है। खेती की औसत उपज बढ़ाने और खेती की विविध क्रियाओं से पूरा लाभ उठाने के लिए खेती की गहरी पद्धति का अवलम्बन हमें करना होगा। सुधरी हुई पद्धतियाँ और औजार तथा अच्छी खाद और बीजों का भी उपयोग करना होगा। मिश्र खेती से, अनाज और घास की फसलों की फेर-बदल करने से बहुत लाभ हो सकता है। पश्चिमी यूरोप के कई देशों ने और संयुक्त राष्ट्र के पूर्वी राज्यों ने इन उपायों से खूब लाभ उठाया है। हमारे यहाँ भी इससे जमीन की उर्वरा शक्ति बढ़ेगी, उपज की औसत बढ़ेगी और हमारे मवेशी के लिए खूब ताकत देने-वाली खूराक मिल सकेगी।

यन्त्रों का उपयोग मनुष्य की तकलीफ कम करने और अधिक काम लेने की दृष्टि से किया जा सकता है। परन्तु ग्राम-सभा ऐसे किसी यन्त्र का उपयोग नहीं करेगी, जो केन्द्रीकरण की ओर ले जानेवाला होगा या बेकारी को पूरी तरह मिटाने में मददगार न होगा या शोषण की गुंजाइश रखेगा या भूमि की उर्वरा-शक्ति कम करेगा या खेती पर काम करनेवालों को पारिश्रमिक लेकर काम करनेवाले किराये के मजदूर की हालत में पहुँचानेवाला होगा।

हाँ, इसके विपरीत जमीन की उपज बढ़ाने और काम को आसान करने के लिए ग्राम-सभाएँ ऐसे यन्त्रों का उपयोग अवश्य

करेंगी, जो एक भी मनुष्य को बेकार न बनाते हुए सबके परिश्रम को बचानेवाले होंगे, जो या तो उस प्रदेश के ही बने हुए या सुलभ होंगे अथवा कम-से-कम टूट-फूट होने पर जिनको वहीं सुधारा जा सकेगा, और जिनका उपयोग किसान खुद कर सकेंगे या सहकारी संस्थाओं की सहायता से उससे लाभ उठा सकेंगे। ऐसे यन्त्रों का उपयोग मनुष्य की आजादी को नहीं छीनेगा या उसका शोषण नहीं करेगा या गाँव अथवा प्रदेश को परावलम्बी नहीं बनायेगा।

जमीन का उपयोग और प्रबन्ध

अपनी सीमा के अन्दर सारी जमीन के प्रबन्ध और खेती की जिम्मेवारी गाँव-सभा की होगी। तदनुसार वह समय-समय पर जमीनों का बँटवारा करेगी। दी हुई जमीन का और उसके पानेवालों का लेखा रखेगी, जिसमें काश्तकार को किन शर्तों पर जमीन दी गयी, इसका उल्लेख भी होगा। इसी प्रकार गाँव-सभा जमीन को ठीक रखने, खाद देने, जंगल बढ़ाने और सुधारने का भी ध्यान रखेगी। उसे इस बात की भी सावधानी रखनी होगी कि मिट्टी के बहाव के कारण कहीं जमीन कटती तो नहीं जा रही है। समाज की खेती सम्बन्धी उपज का ठीक-ठीक उपयोग करने के हेतु से गाँव-सभा अपने लिए विकास का कार्यक्रम भी बनायेगी, उपज के लक्ष्य कायम करेगी और इनकी पूर्ति किस प्रकार हो रही है, इसका निरीक्षण करती रहेगी। गाँव की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए कौन चीज कितनी पैदा की जाय, इस सम्बन्ध में गाँव-सभा सारे गाँव के लिए पैदावार की एक योजना बनायेगी। यह बनाते समय वह अपने क्षेत्र के प्राकृतिक साधनों, सबको युक्त आहार मिल जाय, इस बात का और

अन्न तथा कपड़े के बारे में गाँव को स्वावलम्बी बनना है, इस बात का भी ध्यान रखेगी।

इसलिए सबसे पहले अपने लिए अन्न और कपड़ा पैदा करने पर ध्यान दिया जायगा। अगर गाँव की जमीन इतनी अच्छी है कि वह इन दो चीजों सम्बन्धी जरूरतें पूरी करके इतनी अधिक पैदावार भी दे सकती है कि जिससे इस प्रदेश के कम उपजवाले गाँवों की जरूरतें भी पूरी हो जायँ, तो गाँव-सभा शेष जमीन का उपयोग व्यापारी फसलें लेने के काम में कर सकती है, बशर्ते कि ये चीजें स्वास्थ्य के लिए हानिकर न हों।

संक्रमण-काल में गाँव-सभाओं और प्रादेशिक अधिकारियों को ऐसे उपाय काम में लाने होंगे, जिससे व्यापारी चीजों की फसलें पैदा करने का लालच लोगों को इतना अधिक न हो जाय कि वे स्थानीय जरूरत की चीजों को पैदा करने की परवाह ही न करें।

कुछ गाँव ऐसे भी होंगे, जहाँ खाद्यान्नों की फसलें पैदा नहीं हो सकतीं। किन्तु जहाँ अन्य प्रकार की पैदावार अच्छी हो सकती हैं, वहाँ ऐसी ही चीजें बोयी जायँ। इसी प्रकार कहीं-कहीं कोई खास प्रकार की चीज पैदा करना बहुत महँगा पड़ता हो, तो ऐसी जमीनों पर अधिक आसानी से पैदा होनेवाली फसलें बोकर उनके बदले में आवश्यक चीजें ली जा सकती हैं। इस प्रकार अपने क्षेत्र में उपलब्ध साधनों का समाज के हित में अच्छे-से-अच्छा उपयोग करने का यत्न होना चाहिए। मतलब यह कि अपने गाँव के लिए फसलों की योजना वनाते समय गाँव-सभा को इन सब बातों का विचार कर लेना चाहिए।

अलग-अलग अर्थात् व्यक्तिगत, सहकारी या सामूहिक—सब प्रकार की खेती करनेवालों को गाँव-सभा के द्वारा बनायी इस योजना का पालन करना होगा। अलग रहकर खेती करनेवालों को जमीन लेते समय अन्य शर्तों के साथ एक शर्त यह माननी होगी कि वे ग्राम-योजना का पालन करेंगे। अगर वह इस शर्त का पालन नहीं करेगा या जमीन का इस तरह उपयोग करेगा, जो योजना के उद्देश्यों के विपरीत हो, अथवा जमीन को अच्छी रखने और सुधारने की शर्तों का पालन भी नहीं करेगा, तो गाँव-सभा को अधिकार होगा कि वह उससे जमीन वापस ले ले। ग्राम-योजनाओं का समन्वय करनेवाली प्रादेशिक परिषदों और अधिकारियों को खास तौर पर ध्यान रखना होगा कि जिन गाँवों में जिस-जिस पैदावार के लिए प्राकृतिक अनुकूलताएँ हों, वे इन चीजों की पैदावार जितना भी सम्भव हो, अधिक मात्रा में करें, ताकि यह बचत शहरों और कमीवाले क्षेत्रों की जरूरतें पूरी कर सकें।

खातों का आकार

एक किसान के पास कितना बड़ा खाता हो, इसका निर्णय सबसे बड़ी या प्रादेशिक योजनाओं का समन्वय करनेवाली परिषदें भी मनमाने तौर पर नहीं कर सकतीं। गाँव-सभाएँ सबसे पहले अपने क्षेत्र की काबिल काश्त जमीन का रकबा देखेंगी। फिर जमीन पर काम करने की इच्छा रखनेवालों की संख्या मालूम कर लेंगी। इसके बाद गाँव के शामलाती उपयोग के लिए जितनी जमीन की जरूरत होगी, उतनी अलग निकाल

देगी और शेष जमीन उम्मीदवार किसानों में जितनी अधिक-से-अधिक दी जा सकेगी, समानतापूर्वक बाँट देगी। इस प्रकार खातों का आकार प्रत्येक गाँव का अलग-अलग होगा और एक ही गाँव में उम्मीदवार किसानों की संख्या के अनुसार वह समय-समय पर बदलता भी रहेगा।

इस पद्धति से जहाँ जमीन का रकबा किसानों की संख्या की तुलना में कम होगा, वहाँ स्वभावतः खाते छोटे-छोटे होंगे। इस पर से शायद लोग समझेंगे कि उनमें उपज भी कम होगी और किसान अपना निर्वाह नहीं कर सकेंगे। परन्तु इस तरह भय का कोई कारण नहीं है। क्योंकि यह पहले ही बता दिया जा चुका है कि बहुत बड़े-बड़े खेतों की अपेक्षा हमारे देश में छोटे-छोटे खाते अधिक सुविधाजनक रहेंगे। फिर छोटे खातों पर काश्त-कारों को अधिक मेहनत करने और सुधरे हुए औजार तथा सुधरे हुए बीजों का भी उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जायगा। मिश्र खेती और सहयोग-पद्धति से भी खेती की उपज काफी बढ़ जायगी। फिर यह भी कोई जरूरी नहीं कि हर किसान केवल जमीन की उपज से ही निर्वाह करे। योजना चाहती है कि गाँवों की अर्थ-रचना में आमूल परिवर्तन हो जाय। वहाँ अनेक प्रकार के ग्रामोद्योग खुल जायँ, ताकि किसान परिवारों को अतिरिक्त आय के साधन उपलब्ध हो जायँगे। इसलिए खातों के आकार छोटे-बड़े होने से किसानों के जीवन-मान पर विपरीत असर न पड़ेगा।

संक्रामण-काल

ये तमाम बातें खानगी संपत्ति और जमीन के स्वामित्व

सम्बन्धी प्रचलित कल्पनाओं में आमूल परिवर्तन कर देंगी। आज जमीन गाँव-सभा की संपत्ति नहीं मानी जाती। उस पर व्यक्तियों का स्वामित्व है, जिन्हें या तो वह विरासत में मिली है या उसे जिन्होंने काश्तकारों से खरीद लिया है। इनमें आज बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो जमीन पर काम नहीं करते, बल्कि उसे बैठे-बैठे मुनाफा खाने का एक साधन मानते हैं।

जमीन पर किसानों का क्या-क्या अधिकार है? इस विषय में हमारे देश के विभिन्न राज्यों में अलग-अलग कानून हैं। यह सच है कि बहुत-से राज्य इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि राज्य और किसान के बीच कोई मुनाफा खानेवाला तीसरा न रहे। यह भी यत्न हो रहा है कि जो जोते, वही जमीन का मालिक हो। कुछ राज्यों में जमींदारी की प्रथा समाप्त कर दी गयी है और एक किसान के पास अधिक-से-अधिक जमीन कितनी रह सकती है, इसकी सीमा बाँध दी गयी है। परन्तु असली समस्या को तो अभी छुआ भी नहीं गया है। स्पष्ट है कि जब तक जनता के मानस में क्रान्ति नहीं हो जाती, व्यक्तिगत स्वामित्व से जमीन को निकालकर गाँव-सभा के अधिकार में नहीं लाया जा सकता। जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व रखने का लोभ केवल धनवानों तक ही सीमित नहीं है। इसलिए अगर हमारा उद्देश्य केवल खुदकाश्त न करनेवालों से जमीन छीनने या खातों के आकारों में फेर-बदल मात्र करने का नहीं है, बल्कि जमीन पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को एकदम हटा देना है, तो लोक-मानस में आमूल क्रान्ति ही करनी होगी। ऐसी क्रान्ति कानून की प्रक्रियाओं से संभव नहीं और न हिंसा-काण्डों द्वारा लोगों से जमीनें छीन-छीनकर बड़े-

वड़े-वल बनाने से ही संभव होगी, जैसे कि अन्यत्र तानाशाहियों में यत्न किया गया है। इस दूसरी पद्धति के भयंकर दुष्परिणामों से संसार परिचित है ही। वहाँ पर किसानों ने इस जवर्दस्ती का इतना डटकर मुकाबला किया था कि उसको दवाने के लिए शासन को बहुत बड़ी संख्या में हत्याकाण्ड करने पड़े। लाखों-करोड़ों किसानों को वहाँ अपार मुसीबतें उठानी पड़ी थीं, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की सारी अर्थव्यवस्था खतम हो गयी थी। तव उसको फिर से जिलाने के लिए समय-समय पर न जाने कितनी बार कदम पीछे हटाने पड़े, कड़वी घूँटें पीनी पड़ीं और चालों को टेढ़ी-मेढ़ी करना पड़ा।
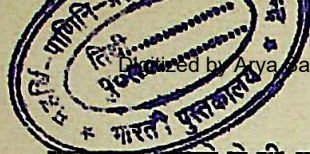
इसी प्रकार कानून की भी अपनी मर्यादाएँ हैं। वह तो केवल वहुसंख्यक जन-समाज की इच्छाओं या धारणाओं को कानून की किताब में स्थान देकर किसी वस्तु को सरकारी नियम या मंजूरी का रूपमात्र दे सकता है। परन्तु यदि कानून यही प्रयोग किसी ऐसी बात के लिए करने लगे कि जिसे वहुजन-समाज की स्वीकृति या कम-से-कम अनुमति नहीं मिल पायी है, तो इसका परिणाम ठीक नहीं होगा। लोग उसे नहीं मानेंगे, विरोध करेंगे और अपना सहयोग खींच लेंगे, तब इस चीज को मनवाने के लिए शासन को तानाशाहों के जैसे उपाय बरतने पड़ सकते हैं। इसलिए किसी सामाजिक परिवर्तन का सबसे सरल और उत्तम उपाय तो यही है कि समाज के विचारों को ही पलटने का यत्न [illegible]। इसका उपाय है सत्याग्रह—अर्थात् समझाना-बुझाना और असहयोग।

[illegible] और खासकर ग्रामदान की प्रवृत्ति इसीका प्रयत्न
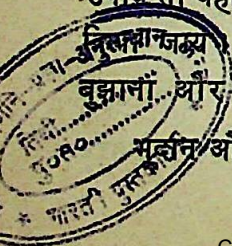
है। खानगी संपत्ति खासकर जमीन की संपत्ति की कल्पना में आमूल और चिरस्थायी क्रान्ति करने की उसमें सामर्थ्य है। जब यह हलचल जोर पकड़ेगी और समाज में क्रान्ति करने के इच्छुक बहुत-से लोग इसमें तन-मन से काम करने लग जायँगे, तब जमीन की स्वामित्वसम्बन्धी पुरानी कल्पना कमजोर हो जायगी और लोगों का दिल यह मानने के लिए तैयार हो जायगा कि जमीन वास्तव में समाज की ही संपत्ति है।

जहाँ-जहाँ भी गाँव के जमीनवाले किसान इस ग्रामदान के आदर्श को स्वीकार कर लें, वहाँ तुरन्त गाँव की सारी अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक जीवन को व्यक्तिगत स्वामित्व की कल्पना में हुए इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के अनुरूप बनाने का यत्न शुरू हो जाना चाहिए।

जब गाँव के जमींदार एक अच्छी संख्या में इस आदर्श को स्वीकार कर लेंगे, तो वहाँ एक शक्ति पैदा हो जायगी और उससे जमीन के समाजीकरण की गति को बड़ा बल मिलेगा। व्यक्ति-गत संपत्ति और सामाजिक न्याय साथ-साथ नहीं चल सकते, यह माननेवाले अपनी जमीनों का स्वामित्व समाज को सौंप देंगे।

इस बीच, जो यह विश्वास करते हैं कि जमीन के स्वामित्व की प्रथा कानून बनाकर धीरे-धीरे समाप्त करनी चाहिए, उन्हें चाहिए कि वे भी इस प्रगति को स्वीकार करनेवाले कानून बनाते जायँ। उदाहरणार्थ, जमींदारी की समाप्ति, जो खुद काश्त नहीं करते हैं, उनके पास जमीन नहीं रहने देना (बच्चे,

विधवाएँ और पंगु व्यक्ति इसके अपवाद होंगे), शासन और किसान के बीचवालों को हटा देना, खेती की अधिक-से-अधिक जमीन रखने की सीमा, मुनाफे या बँटाई पर जमीन न देना, ये सब जमीन के स्वामित्व को समाप्त करने और उसे समाज के अधिकार में देने की दिशा में एक-एक कदम हैं।

जब तक इन सुधारों पर विचार हो रहा हो और इनके मंजूर होने में देर हो, तो दूसरों की जमीन एक निश्चित समय से जोतनेवाले किसानों के लिए रक्षात्मक कानून बना दिये जाने चाहिए और आज्ञाएँ जारी कर दी जानी चाहिए कि खातेदार किसी शिकमी काश्तकार को बेदखल न कर सकेगा, जब तक कि वह (खातेदार)खुद उस जमीन को काश्त न करनेवाला हो। इसके बाद एक दूसरा कानून भी जमीन के पुनर्वितरण के बारे में बनाया जाय, जिसके द्वारा किसीके भी पास इतनी अधिक जमीन न रहने दी जाय कि वह दूसरे का शोषण कर सके। जमीन के स्वामित्व को खतम करने की दिशा में वह पहला कदम होगा। इसी प्रकार ग्रामीकरण की दिशा में अधिक-से-अधिक जोतों की हदबन्दी कायम करना भी एक आवश्यक कदम है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि जोतों का सीमा-निर्धारण यदि अनुचित रूप से अधिक हो, तो इससे भूमि के पुनर्वितरण में कठिनाई ही नहीं होगी, वरन् यह एक प्रकार का सिरदर्द भी होगा। पशुओं की सहायता से और उस क्षेत्र में प्रचलित औजारों की मदद से आदमी जितनी जमीन जोत सकता है, वही जोत की सीमा मानी जानी चाहिए। इस प्रकार जमीन की किस्म और खेती की हालत

देखकर ही हर प्रदेश में एक परिवार के पास रहने दिये जाने-वाले रकबे का निश्चय किया जायगा।

परन्तु स्मरण रहे कि केवल अधिकतम रकबे की सीमा निश्चित कर देना ही काफी नहीं है। केवल इससे न तो स्वामित्व की भावना चली जायगी, न बेजमीन उम्मीदवारों को जमीन ही मिल जायगी। इसी प्रकार कम-से-कम जमीन कितनी रहे, यह सीमा मुकर्रर कर देनेभर से भी बेजमीनों को अपने-आप जमीन नहीं मिल जायगी। हाँ, इससे जमीन के और अधिक छोटे टुकड़े होने से रुक जायँगे और बिखरे टुकड़ों की चकबन्दी करने में इन कानूनों से जरूर काफी मदद मिल जायगी। परन्तु बेजमीनों को जमीनें दिलाने के लिए दूसरे उपाय भी करने होंगे। उदाहरणार्थ, अगर हम चाहते हैं कि जमीन सबको थोड़ी-थोड़ी मिले, तो एक आदमी के पास रहने दी जानेवाली जमीन के अधिकतम और न्यूनतम रकबेवाला कानून बनाने से अगर पहले नहीं तो कम-से-कम उसके साथ-साथ एक ऐसा कानून भी बनाया जाय, जिसके अनुसार बड़े काश्तकारों की श्रेणियाँ मुकर्रर करके प्रत्येक श्रेणी से क्रमशः जमीनें प्राप्त करने का कार्यक्रम बना दिया जाय। इसका आधार आय-कर की भाँति बड़े रकबेवालों से अधिक रकबा और क्रमशः कम रकबेवालों से कम रकबे की किश्तें रखी जायँ। ये रकबे अधिकतम रकबेवाला कानून लागू होने से पहले भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

इस तरह जमीन प्राप्त कर लेने और मध्यस्थों की प्रथा को मिटा देने के और इसी प्रकार यह नियम बना देने पर कि जो खुद जोतेगा, उसीके पास जमीन रहेगी, आज के कुछ खाते-

दार या तो अपनी आय का साधन एकदम खो बैठेंगे या उनकी आय में भारी कमी हो जायगी। जिनके पास निश्चित रकबे से अधिक जमीन नहीं होगी, उनका कोई नुकसान नहीं होगा, अगर वे जमीन खुद जोतेंगे या कम-से-कम जुताई में प्रत्यक्ष भाग लेंगे। इसलिए ऐसे लोग बहुत कम होंगे, जिनको इस नयी व्यवस्था में जमीन खोनी पड़ेगी। फिर भी इनको पुनर्वास-शुल्क के रूप में इस जमीन का मुआवजा दिया जा सकता है। यह मुआवजा जमीन की कीमत या कीमत के लगभग हो, इस प्रकार नकद के रूप में नहीं होगा। जमीन के बदले में रोजगार दिया जा सकता है, जिसमें योजना द्वारा निश्चित एक परिवार के निर्वाह के लिए कम-से-कम आवश्यक आय और पिछले अध्याय में बतायी अधिक-से-अधिक आयवाले वर्ग की आय के बीच प्रत्येक परिवार की पात्रता के अनुसार आय हो। पुनर्वास-शुल्क के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ दिया जायगा, उसके लिए सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता; वह तो प्रत्येक व्यक्ति के प्रश्न पर पृथक्-पृथक् विचार करके ही निश्चित किया जा सकता है।

इस व्यवस्था के अन्दर प्राप्त की गयी जमीन का वितरण गाँव-सभा द्वारा किया जायगा।

वन

जमीन की कटती रोकने, और वर्षा बराबर आती रहे, इसलिए यह आवश्यक है कि जमीन के पूरे रकबे के ३३ प्रतिशत रकबे में जंगलात होने चाहिए। यह उद्देश्य इतने से ही नहीं पूरा हो सकता, यदि यह ३३ प्रतिशत जंगलवाली भूमि कुछ

विशेष प्रान्तों में ही केन्द्रित कर दी जाय और अन्य प्रान्तों में जंगलों के कटने तथा मरुभूमि के विस्तार को रोकने का कोई प्रयास न हो। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र में जंगलों का कटना रोककर तथा नये-नये जंगल लगाकर आवश्यक भूमि में जंगलों की व्यवस्था की जाय।

परन्तु इस बात को जानते हुए भी वन-नीति का संचालन करनेवाले अधिकारी तात्कालिक लाभ से प्रभावित होकर इस बुनियादी सिद्धान्त की उपेक्षा करते रहे हैं। इस लाभ के लालच ने हमारी वन-संपत्ति का बड़ा नाश किया है। पर्वत नंगे कर दिये गये हैं और बेशकीमती इमारती लकड़ी या तो विदेशों में भेज दी गयी या जलाकर उसका कोयला बना दिया गया है, जो उससे भी बुरा है। वनों का शोषण करने, उन्हें बसाने या अन्य प्रकार से उनसे कमाई करने के प्रयत्न तो जरूर हो रहे हैं। परन्तु जंगलों को बढ़ाने का ऐसा यत्न कहीं भी होता दिखाई नहीं दे रहा। खेती और आबादी को बढ़ाने की धुन में अनेक जगह वन-संपत्ति का अन्धाधुन्ध नाश किया गया है। इसके कारण मिट्टी के बह जाने से जमीन के कटने की समस्या बड़ी गंभीर बन गयी है।

इस समस्या का मुकाबला करने के लिए प्रादेशिक अधिकारियों को जमीन की रक्षा और वन-संवर्धन की एक दीर्घकालीन नीति बनानी होगी। यही नहीं, समस्त राष्ट्र को अपनी वन-संपत्ति की रक्षा और उपयोग के बारे में दूरदर्शिता के साथ विचार करके एक निश्चित नीति बना लेनी चाहिए और प्रादेशिक कार्यक्रमों को उसके साथ समन्वित कर लेना चाहिए।

प्रत्येक गाँव जमीन का एक टुकड़ा इंधन की लकड़ी देनेवाले पेड़ों के लिए और एक टुकड़ा वनौषधियों के लिए सुरक्षित रखे।

जमीन की रक्षा

चूंकि जमीन का स्वामित्व गाँव-सभा के हाथों में होगा, इसलिए उसका कर्तव्य होगा कि वह जमीन की रक्षा करे और मिट्टी बहकर जमीन कटने न पाये, इसका ध्यान रखे। इसी प्रकार वह विशेषज्ञों की मदद लेकर जमीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने का यत्न करे और इसमें अनेक गाँव-सभाएँ मिलकर काम करें। मिट्टी के बहाव को बचाने के लिए बाँध बनाना, जमीन का स्तर समान करना, कहीं-कहीं जमीन की समतल को पूरी तरह से ऊँची कर देना, जगह-जगह जंगल लगा देना, ये उपाय हो सकते हैं। इसी प्रकार जमीन की उपजाऊ शक्ति बढ़ाकर किस्म सुधारने के लिए अच्छी खाद देना और फसलों को बदल-बदलकर बोना—ये उपाय हो सकते हैं।

खेती के विशेषज्ञ मिट्टी के बहाव को रोकने और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए इस तरह कई उपाय कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में कहाँ-कहाँ क्या-क्या किया जाना चाहिए, इसकी नीति और कार्यक्रम निर्धारित करने का काम खेती-अनुसन्धान-केन्द्रों का होगा। वे ग्रामीण जनता को भी इस विषय की जानकारी देकर शिक्षित करेंगे। इसी प्रकार गाँव-सभाओं का यह कर्तव्य होगा कि वे किसानों के पास उपर्युक्त कारणों से जमीन बिगड़ तो नहीं रही है, इसका भी ध्यान रखें।

फल और सब्जी की खेती

फसलों के बारे में गाँव-सभा जो योजना बनायेगी, उसका एक लक्ष्य यह भी होगा कि समाज को सब प्रकार का आवश्यक पोषण—युक्ताहार देनेवाली फसलें ग्राम में ही पैदा हो जाया करें। इस प्रकार आवश्यक अनाज और दूध के अलावा प्रत्येक गाँव को अपने लिए आवश्यक मात्रा में फल और सब्जी भी पैदा कर लेनी चाहिए। हर परिवार से कहा जायगा कि वह जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा फल, सब्जी और कपास के पौधे के लिए सुरक्षित रखे। जब ग्रामों की सीमाओं का संशोधन हो चुकेगा और लोग अपनी-अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार नये सिरे से योजना के अनुसार बस जायँगे, तब शायद यह भी प्रबन्ध हो सके कि प्रत्येक परिवार के लिए उसके मकान से लगा हुआ एक छोटा-सा बगीचा हो, जिसके अन्दर फलों और सब्जियों की खेती हुआ करेगी।

ग्राम-सभाएँ भी अपनी शामलाती जमीन में से कुछ हिस्से में फलों और सब्जी की खेती किया करेंगी और इससे कमीवाले हिस्सों की तथा शहरों की जरूरतों की पूर्ति होती रहेगी।

आबपाशी

जो भी योजना खेती का रकबा और फी एकड़ पैदावार बढ़ाना चाहती है, उसे सिंचाई का प्रबन्ध करना ही होगा। अभी देश के अन्दर करीब ३२,७८,००,००० एकड़ में खेती हो रही है। इसके अन्दर परती की जमीनें भी शामिल हैं। इसमें बहुत-सा हिस्सा ऐसा है, जहाँ वर्षा नियमित रूप से और पर्याप्त नहीं

होती और लोगों को सिंचाई के अव्यवस्थित साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। बरसात के पानी को एकत्र करके उसका ठीक-ठीक उपयोग करने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है। इसी प्रकार जमीन के अन्दरवाले जलस्रोतों का लाभ भी लोगों को बहुत कम मिल पा रहा है। अभी-अभी अर्थात् सन् १९५२ तक देश में आबपाशी का कुल रकबा, जिसे सिंचाई के छोटे-बड़े साधनों से जल मिल रहा है, ५,१४,६६,००० एकड़ था। इसमें से १,८५,३०,००० एकड़ों की सिंचाई राज्यों की नहरों द्वारा, २६,७१,००० एकड़ों की खानगी नहरों द्वारा, ८६,२६,००० एकड़ों की तालाबों से, १,५७,४७,००० एकड़ों की कुँओं के द्वारा और ५६,५०,००० एकड़ों की सिंचाई दूसरे साधनों से होती है। शेष २७·०४ करोड़ एकड़ की खेती वर्षा के पानी पर ही निर्भर रहती है। यह सच है कि सिंचाई का रकबा बढ़ाने का यत्न हो रहा है। परन्तु खेती के सुधार के लिए इससे कहीं बड़ी और वैज्ञानिक योजना की जरूरत है। इतना बड़ा काम यहाँ-वहाँ बड़ी-बड़ी नदी-घाटी-योजनाएँ बना देने और बिजली पैदा करनेवाले राक्षसी यन्त्र खड़े कर देने से नहीं हो सकेगा। इसके लिए देश की तमाम नदियों का सर्वेक्षण करके नहरों का जाल सारे देश में फैला देना होगा, जो सिंचाई और आवागमन के लिए सस्ते रास्तों का भी काम देंगी। इतना करने पर भी बहुत-सा प्रदेश ऐसा रह जायगा, जहाँ की जनता को वर्षा के पानी पर या कुँओं की सिंचाई पर ही खेती के लिए निर्भर रहना होगा। इन भागों का मुख्य आधार तालाब और कुएँ ही रहेंगे, इसलिए पुराने तालाबों की मिट्टी निकालकर उन्हें गहरा

करना होगा। नयें कुएँ खोदने होंगे और जगह-जगह बंधों को ऊँचा कर या नये बाँधकर बरसात के पानी को रोकना होगा। आज तो गाँवों में पीने के लिए शुद्ध जल के कुएँ भी पूरे नहीं हैं। इसलिए काफी संख्या में नये कुएँ बाँधने होंगे और जगह-जगह नलकूपों द्वारा पानी का पता लगाकर पानी के साधन निर्माण करने होंगे। कम-से-कम हर पाँच एकड़ पर एक कुआँ होना चाहिए।

स्पष्ट है कि इतनी बड़ी समस्या केवल व्यक्तिगत प्रयत्नों से हल नहीं हो पायेगी। अधिकांश किसान ऐसे हैं कि अगर उन्हें राज्य की तरफ से मदद नहीं मिली, तो वे खुद सिंचाई के साधन नहीं जुटा पायँगे। इसलिए इस प्रश्न को गाँव-सभाएँ और प्रदेश-अधिकारियों को मिलकर हल करना होगा। तालाबों की मिट्टी निकालकर उन्हें गहरा करना, कुएँ बनाना, बाँध बाँधना वगैरा काम गाँव-सभाएँ कर सकती हैं। परन्तु बड़ी नदियों को रोककर उनसे नहरें निकालने का काम प्रादेशिक परिषदों को करना होगा।

बड़ी-बड़ी नदियों पर बाँध बाँधकर नहरें निकालने के साथ बिजली पैदा करने का काम भी अक्सर जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार वे बहुकामी योजनाएँ कहलाती हैं, जिनसे जनता को सिंचाई के लिए जल और मकानों के लिए रोशनी और उद्योगों के लिए सस्ती शक्ति भी मिल जाती है। इस तरह एक ही योजना से दोनों, तीनों काम निकाल लेना अच्छा है। परन्तु अगर इनमें से एक चीज देहात की गरीब जनता के लिए महँगी—उनकी शक्ति से बाहर पायी जाती है और दूसरी—बिजली—केवल दूर के शहरों की जनता के लिए ही पैदा करके वहाँ भेज दी

जाती है, ग्रामीण जनता उससे लाभ नहीं उठा सकती, तो ये बड़ी-बड़ी योजनाएँ ग्रामीण जनता के लिए मुश्किल से उपयोगी रह जाती हैं।

यह एक दुर्दैव की बात है कि पन-बिजली की योजनाओं को आर्थिक दृष्टि से लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि उनको सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाओं के साथ जोड़ देना चाहिए, जिनमें बहुत बड़े-बड़े बाँध बनाने पड़ते हैं। अन्दाज लगाया गया है कि आसपास के साधारण प्रदेश की जरूरतों के लायक पन-बिजली पैदा करने के लिए प्रवाह को पचीस फीट की ऊँचाई मिल जाना काफी है। जापान में इस तरह के यन्त्र जगह-जगह लगाये गये हैं। हमारी ग्रामीण जनता को बिजली का लाभ इस योजना से ही मिल सकता है। इससे दो लाभ होंगे। एक तो इसके लिए बड़ी-बड़ी पूँजियों की जरूरत नहीं होगी और प्रबन्ध भी महँगा नहीं पड़ेगा, सुविधा-पूर्वक हो सकेगा। इसके अलावा बिजली के उत्पादन में विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ अपने-आप उद्योग-कारखानों का भी विकेन्द्रीकरण हो जायगा।

जब जमीन को सिंचाई का लाभ मिलने लगेगा, तो उपज अपने-आप बढ़ जायगी। और जहाँ जमीनें बेचना मना नहीं है, वहाँ उसकी कीमतें भी बढ़ जायँगी। किंतु सिंचाई की इतनी सारी सुविधाएँ निर्माण कर देने के बाद भी योजना यह विश्वास नहीं दिला सकती कि सिंचाई का लाभ सब किसानों को मिल ही जायगा। अतः स्वभावतः ऐसी जमीनें बच जायँगी, जो सिंचाई से वंचित रहने के कारण अपेक्षाकृत कम उपज देंगी। सिंचाई

के लाभों के इस असमान वितरण के कारण अगर खेती की आय में आनुषंगिक विषमता नहीं होने देनी है, तो गाँव-सभाओं को कोई ऐसा उपाय करना होगा, जिससे सिंचाई से वंचित जमीनों-वाले किसानों की कमाई की पूर्ति हो सके। जब जमीन पर किसी का स्वामित्व नहीं रहेगा और ग्राम-सभा समय-समय पर जमीन का बँटवारा करती ही रहेगी, तब वह उम्मीदवार किसानों को एक टुकड़ा सिंचाईवाली और एक टुकड़ा सूखी जमीन में दे सकती है। परन्तु कुछ ऐसे हिस्से रहेंगे, जहाँ यह करना संभव नहीं होगा। ऐसे भागों में गाँव-सभा सिंचाईवाली जमीन पर अतिरिक्त कर लगा देगी और इसकी आय का उपयोग सूखी जमीनवाले किसानों की कमी की पूर्ति में तथा उनकी सहूलियतें बढ़ाने में करेगी।

जब तक जमीनों पर व्यक्तियों का खानगी स्वामित्व रहेगा, तब तक आयों की विषमता को मिटाने के लिए सिंचाई-वाली जमीन पर विशेष कर लगाया जा सकता है।

फसलों का बीमा

देश के बहुत-से हिस्सों में उपज की औसत बहुत कम है और दूसरे हिस्सों में फसलें बीच-बीच में खराब हो जाती हैं। हमारे देश में यह एक साधारण-सी बात हो गयी है। परन्तु अगर ठीक से योजना बनाकर इस बुराई की तरफ ध्यान दिया जाय, तो इस पर काबू पाया जा सकता है। जब पेड़-पौधे लगाकर, जगह-जगह बंध बाँधकर और जमीन को समतल बनाकर मिट्टी के बहाव को रोक दिया जायगा; इसी प्रकार वैज्ञानिक

तरीके से खाद देकर जमीन की उर्वरा शक्ति बढ़ा दी जायगी और किसानों को दूसरी अनेक प्रकार की खेती सम्बन्धी सहूलियतें मिलने लग जायँगी, तो निश्चय ही जमीन की उपज बढ़ेगी और फसलों का बिगड़ना बहुत कम हो जायगा। जब बड़ी-बड़ी नदियों को काबू में कर लिया जायगा और बाढ़ों के पानी को नहरों में बाँटकर खेती के लिए उसका अधिकाधिक उपयोग होने लगेगा, तो बाढ़ों का खतरा भी कम होता जायगा। उधर गाँव-सभाएँ भी फसलों को बीमारियों से बचाने की उपाय-योजना करने लगेंगी और अन्य प्रकार के हानिकर पौधों आदि से उनकी रक्षा करना सीख जायँगी। परन्तु यह सब कर लेने पर भी हम एकदम निश्चिंत नहीं हो जायँगे, क्योंकि जो भाग पूर्णतः बरसात पर ही अवलम्बित होंगे अथवा खतरनाक बाढ़ के क्षेत्रों में होंगे, वहाँ प्रकृति की सनकों के कारण लोगों को कष्ट होगा ही। ऐसे भागों में फसलों का बीमा करा देने की प्रथा शुरू कर देना लाभदायक होगा। इससे संकट के वर्षों में किसानों को कुछ राहत मिल जाया करेगी। इसके अलावा गाँव-सभाओं को अपने संग्रह में हमेशा एक वर्ष तक काम दे दे, इतना गल्ला भरकर रखना चाहिए। वह भी मुसीबत के वर्षों में काम दे देगा। इस अनाज बैंक के लिए अनाज के रूप में गाँव के लोगों से ही चन्दा लिया जाय, क्योंकि आखिर यह उन्हींको काम देगा। प्रदेश के योजना-अधिकारी भी ग्राम-सभाओं की इस अनाज की बैंकों का उपयोग किसी अकालपीड़ित भाग को राहत पहुँचाने के लिए कर सकते हैं, जब कि उनका अपना संग्रह बार-बार अकालों के कारण नाकाफी साबित हो।

जिस समाज में प्रत्येक मनुष्य सारे समाज के लिए उत्पादन करता है और इसके बदले में उसकी जरूरतों की पूर्ति समाज करता है, वहाँ प्रत्येक किसान के खेत की उपज का बीमा करने का सवाल ही खड़ा नहीं होता। हाँ, जहाँ किसान को पूरी तरह से बाजार में मिलनेवाली अपनी उपज की कीमत पर ही निर्भर करना पड़ता है, वहाँ जरूर अलग-अलग बीमे की जरूरत हो सकती है। परन्तु उस आदर्श स्थिति को पहुँचने में देर लग सकती है, जिसके अन्दर किसान समाज के लिए शक्तिभर काम करता है और अपनी जरूरत के लायक समाज से पा लेता है। तब तक तो किसान को अपने खेत पर ही मेहनत करके उससे बाजार में जो मिल जाय, उसी पर निर्भर करना पड़ेगा। ऐसी सूरत में किसान की रक्षा और मदद करनेवाली फसल के बीमे जैसी कोई योजना होना जरूरी है। ये योजनाएँ गाँव की बहुकामी सहकारी सभा द्वारा बनायी और चलायी जायँगी और किसानों को सहूलियत रहेगी कि वे अपनी किश्तें उपज के रूप में दे सकें।

ग्रामों की ऋण-समस्या

भारत की खेती की समस्या को सुधारने की इच्छा से बनायी गयी योजना के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण और कठिन समस्याओं में से एक ग्रामीणों के ऋण की समस्या होगी—अर्थात्—पुराने ऋण को चुकाना और आगे के लिए ऋण की सुविधा करना। बहुत-से किसानों के सिर पर उनका अपना लिया या उनके पुरखों द्वारा लिया गया इतना ऋण है कि जिसको चुकाने की वे आशा भी नहीं कर सकते। पुश्तों से ये गरीब ऊँची

दर की सूद देते रहते हैं और फिर भी ऋण से मुक्त नहीं हो पाते। इन साहूकारों ने साहूकारे को एक खासी कला बना लिया है। वे किसानों को हजार तरह से लूट-लूटकर उन्हें ठेठ गुलामी की हालत में पहुँचा देते हैं। बहुत-से किसानों के सिर पर भय की यह तलवार निरन्तर लटकती ही रहती है कि कहीं कर्ज की अदायगी में अपनी आजीविका का एकमात्र साधन जमीन ही न छिन जाय। जब तक इस स्थिति को तुरन्त और पूरी तरह नहीं बदल दिया जाता, तब तक खेती के पुनर्जीवन और समानतायुक्त और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना का सवाल ही खड़ा नहीं हो सकता।

इसलिए गाँव-सभा को प्रत्येक किसान के कर्ज की जाँच करनी होगी और यह निर्णय करना होगा कि उसे यह कर्ज चुकाना चाहिए या नहीं और अगर चुकाना उचित हो, तो वह किस प्रकार चुकाया जा सकता है। वह जाँच करेगी कि कर्ज किस काम के लिए लिया गया या कितना लिया गया या व्याज की दर क्या लगायी गयी है। कितनी रकम दी जा चुकी है। कर्जदार की शक्ति और कर्ज देनेवाले साहूकार की माली हालत कैसी है? इन सब बातों का विचार वह कर्ज चुकाने की बात सोचने से पहले करेगी। यह सब जाँच कर लेने के बाद अगर उसे यह उचित जान पड़े कि अब कर्ज वापस देने की जरूरत नहीं है, तो वह ऐसा निर्णय कर सकती है। अधिकांश कर्जों की रकमों में भारी कमी करनी होगी। मूलधन के बराबर या उससे अधिक व्याज कभी मंजूर ही न किया जाय। और अगर ग्राम-सभा देखे कि कहीं-कहीं साहूकार ने मूलधन के अलावा उचित से अधिक

ब्याज वसूल कर लिया है, तो गाँव-सभा इस तरह कर्जदार को धोखा देकर वसूल की गयी रकम उसे वापस दिलायेगी।

जहाँ-जहाँ जमीन पर से व्यक्ति का स्वामित्व हट जाय और जमीन गाँव-सभा के कब्जे में आ जाय, वहाँ किसानों के कर्ज की जिम्मेवारी ग्राम-सभा अपने ऊपर ले लेगी। वह साहूकारों से कहेगी कि वे अपने दावे छोड़ दें और कर्ज की रकम दान के रूप में समाज को दे दें। परन्तु यदि इसे साहूकार स्वीकार न करे, तो गाँव-सभा कर्ज अदा करना स्वीकार कर ले। इन सूरतों में वह पुनर्वास-भत्ता उचित से अधिक न दे। हाँ, अगर वह देखे कि जिसके कर्ज की जिम्मेदारी वह अपने सिर पर ले रही है, वह इसे चुका सकता है, तो यह रकम वह किसान से वसूल कर ले।

जहाँ जमीन पर समाज का स्वामित्व न भी हो गया हो, वहाँ भी गाँव-सभा को यह अधिकार होना चाहिए कि वह प्रत्येक किसान के कर्ज की जाँच करके यह निर्णय दे सके कि कर्ज कतई नहीं लौटाना चाहिए, कम किया जाना चाहिए या पूरा वापस दिया जाना चाहिए। आखिरी सूरत में वह यह भी तय कर दे कि कर्ज की अदायगी किस प्रकार की जाय। कर्ज को न लौटाते या कम करने का विचार करते समय गाँव-सभा यह भी देख ले कि इससे साहूकार की आर्थिक स्थिति एकदम खराब तो नहीं हो जा रही है। सर्वोदय-समाज-व्यवस्था में प्रत्येक बालिग रोजी प्राप्त कर सकेगा। संक्रमण-काल में भी, जब कि कर्ज कम करने या कतई नहीं लौटाये जाने का निर्णय करना पड़े, गाँव-सभा ऐसे साहूकारों को अनाथ बनाकर न

छोड़ देगी, बल्कि उन्हें या तो कोई निर्वाह का साधन देगी या पुनर्वास-भत्ता देगी, अगर उसे यह प्रतीत होगा कि वे खुद अपने लिए कोई काम नहीं तलाश कर सकते।

इस प्रकार कर्जों को समाप्त करने या कम करने से यों किसानों का बोझ काफी हलका हो जायगा, फिर भी गाँवों के कर्ज की मुख्य समस्या तो अभी अछूती ही रह जाती है। अगर किसानों की जरूरत के समय उन्हें नये कर्ज मिलने का समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया, तो किसानों को या तो फिर कर्ज लेना होगा या फिर यह सुविधा नहीं हुई, तो खेती के काम-काज में हर्ज होगा। इसलिए खास समस्या तो यह है कि किसानों को जरूरत के लायक पूरा कर्ज मिल जाय, किन्तु वे शोषण और सूदखोरी के शिकार न हों। छोटे-छोटे किसानों को कर्ज दो कारणों से ही लेना पड़ता है। खेती की लागत, जैसे औजार, बैल, बीज आदि के लिए या फिर शादी, मृत्यु, जैसे खुशी और शोक के प्रसंगों पर होनेवाले सामाजिक कार्यों के लिए। इन रूढ़ियों के शिकार होकर किसान अपनी औकात से अधिक खर्च न करें, यह प्रयत्न सुधारकों को करना होगा; क्योंकि यह एक व्यापक बुराई है। चूंकि परिवारों के बीच आज जैसे सम्बन्ध होते हैं, वैसे ही अब गाँवों में किसानों के वीच भी होंगे। अतः गाँव-सभाओं को पारस्परिक सम्बन्धों के नये नमूने कायम करने होंगे और यत्न करना होगा कि वे रूढ़ हो जायँ। गाँवों की वहुधंधी सहकारी समितियों का काम होगा कि वे नकद और जरूरी चीजों के रूप में किसानों को ऋण देकर उनकी खेती के सुधार में सहायता कर दिया करें। जहाँ आवश्यक

हो, इन समितियों की यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वे गाँव-सभा द्वारा दो वर्ष की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से संग्रहीत अन्न-भण्डार की जमानत पर स्टेट बैंक से या क्षेत्रीय अधिकारियों से ऋण ले सकें। जमीन को कोई रेहन नहीं रख सकेगा, क्योंकि जमीन पर किसानों का स्वामित्व होगा ही नहीं।

खेती सम्बन्धी अनुसन्धान

इस अध्याय के प्रारम्भिक हिस्सों में बताया गया है कि योजना के अन्दर खेती की पद्धति में बहुत भारी-भारी सुधार होंगे और फलतः उस हिसाब से खेती की उपज भी बढ़ जायगी। यह भी बताया गया है कि जोतनेवालों की संख्या बढ़ जायगी। किन्तु यह सब प्रगति तब तक देश को लाभ नहीं पहुँचा सकेगी, जब तक गहरी खेती को सफल बनाने सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी—उदाहरणार्थ, बदल-बदलकर फसलें बोना, वैज्ञानिक पद्धति की खादों का और यन्त्रों का उपयोग, वगैरा समस्त जनता को देने के प्रयत्न में सब नहीं लग जायेंगे। और किसानों को सुधरे हुए बीज और औजार नहीं मिल जायेंगे। यह तब तक संभव नहीं होगा, जब तक खेती सम्बन्धी अनुसन्धान-केन्द्रों का जाल सारे देश में नहीं फैल जायगा और वे प्रत्येक गाँव के किसानों के निरन्तर संपर्क में नहीं रहेंगे।

यों आज भी देश में कुछ अनुसन्धान केन्द्र और प्रयोग-क्षेत्र तो हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन अनुसन्धानों और प्रयोगों के परिणामों का लाभ करोड़ों किसानों को मिलने लग गया है। यह तभी सम्भव होगा, जब अनुसन्धान-केन्द्रों की संख्या काफी बढ़ जायगी और अनुसन्धान के हेतु में ही सुधार

हो जायगा अर्थात् देश के विभिन्न भागों में बसनेवाले छोटे-छोटे किसानों की समस्याओं को समझकर उनके हल ढूँढ़ने का यत्न किया जायगा। इसलिए खेती सम्बन्धी अनुसन्धान का मुख्य हेतु यह होगा कि छोटे-छोटे रकबोंवाले खेतों पर काम देने लायक सुधरे हुए औजार ढूँढ़ना, जमीन की उपजाऊ शक्ति की रक्षा और सुधार करना, भिन्न-भिन्न आबोहवावाले क्षेत्रों में पनप सकें, ऐसी किस्म के तरह-तरह के बीज तैयार करना और इसी प्रकार कुदरती और वैज्ञानिक तरीकों से बनायी गयी खादों की खोज करके उनसे सम्बन्धित जानकारी जनता के लिए उपलब्ध कर देना। इन तमाम बातों में इन अनुसन्धान-केन्द्रों को चाहिए कि जापान जैसे देशों में इस बारे में जो सुधार हुए हैं, उनका अध्ययन करें और जहाँ सम्भव हो, उनको स्वीकार भी कर लें, क्योंकि वहाँ की आबादी घनी है और जमीन की कमी है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और संयुक्त राज्य रूस में किये गये खेती सम्बन्धी अनुसन्धान हमारे लिए इतने उपयोगी नहीं होंगे, क्योंकि वहाँ जमीन बहुत अधिक है और जोतनेवालों की संख्या अपेक्षाकृत कम। हमारे देश की स्थिति इससे भिन्न है। इसलिए वहाँ के प्रयोग हमारे लिए इतने उपयोगी न होंगे। हमारे अनुसन्धान-क्षेत्रों को भारी संख्या में प्रयोग करने होंगे और यह देखना होगा कि दूसरे देशों ने जो ज्ञान और यन्त्र सम्बन्धी प्रगति की है, उससे हमारे देश को उसकी भिन्न परि-स्थिति और जरूरतों को देखते हुए किस तरह लाभ पहुँचाया जा सकता है।

हम नहीं कह सकते कि हमारे देश के अनुसन्धान-केन्द्र

कहाँ तक इन बातों को ध्यान में रखकर कार्य कर रहे हैं। इसके विपरीत हम देखते हैं कि यहाँ तो प्रायः इसी उद्देश्य से अनुसन्धान किया जा रहा है कि किस प्रकार यन्त्रों की मदद से खेती का विकास हो। और यह प्रयोग बड़े पैमाने पर विशाल खेतों पर बड़े कारखानों की मदद के लिए किये जा रहे हैं। विनौले, गन्ने और पटसन की नयी-नयी किस्मों का विकास करने के लिए जो अनुसन्धान-कार्य हो रहा है, इसके वे प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

खेती के अनुसन्धान-केन्द्र "ऋषि-खेती" के क्षेत्र में भी अनुसन्धान कर सकते हैं। ऋषि-खेती में यन्त्र तो ठीक, पशुओं का भी उपयोग खेती के काम-काज में नहीं किया जाता। सब काम मनुष्य खुद करता है और उसमें ऐसे ही औजारों से काम लेता है, जिनसे मनुष्य खुद काम ले सकता है। इस पद्धति में तरह-तरह के अनुसन्धान करके यह देखना चाहिए कि दूसरे प्रकार की खेती से जितनी उपज होती है, उतनी उपज इसमें सुधरे हुए औजार और नयी पद्धति से हो सकती है या नहीं। इस अनुसन्धान का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि खाद के लिए भी बड़ी मशीनों की मदद बगैर लिये इस पद्धति से पूरी उपज हो सकती है या नहीं? अगर यह सिद्ध हो जाय कि ऋषि-खेती से भी पूरी पैदावार मिल सकती है, तो कुछ जमीन इसी प्रकार की खेती के लिए छोड़ी जा सकती है।

खेती-अनुसन्धान-शालाएँ और प्रयोग-क्षेत्र नयी आबादी की जमीन पर ही स्थापित किये जायँ। इन क्षेत्रों में नये-से-नये यन्त्रों का और पद्धतियों का प्रयोग किया जाय और उनके गुण-विशेषों का परीक्षण किया जाय। ◆◆◆

: ३ :

पशु-पालन

कहने की जरूरत न होनी चाहिए कि पशु-पालन और खेती के बीच कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष में इसका और भी अधिक महत्त्व है, क्योंकि ८० प्रतिशत से भी ज्यादा आबादी यहाँ गाँवों में रहती है और खेती तथा खेती सम्बन्धी ग्रामोद्योगों से निर्वाह करती है। इन गाँवों में पुनः चैतन्य डालने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाली हर योजना को चाहिए कि वह खेती, पशु-पालन और ग्रामोद्योगों में भी नयी जान डाले और इन तीनों को एक साथ अविभाज्य रूप में जोड़ दे। अगर तीनों का वैज्ञानिक रीति से और परस्पर को सहायक हों, इस प्रकार विकास किया जाय, तो इससे खेती की पैदावार बढ़ेगी, गाँवों की आंशिक और पूरी, दोनों प्रकार की बेकारी दूर होगी, ग्रामीण जनता की खरीदने की शक्ति बढ़ेगी, उसकी रहन-सहन ऊँची होगी और वह आत्म-निर्भर बन जायगी।

हमारी आबादी का ७१·६ प्रतिशत खेती और खेती से सम्बन्धित पेशों से आजीविका पाता है। राष्ट्र को इनसे ४७५० करोड़ की आय होती है, जो कुल राष्ट्रीय आय का ४९·९ प्रतिशत है। परन्तु जो लोग खेती और उससे सम्बन्धित पेशों से अपनी आजीविका पाते हैं, उनकी औसत आय (सन् १९५२-५३ की कीमतों के आधार पर) ४८२ रु० है। देश में जितने भी पेशे हैं, उनमें यह सबसे कम आयवाला है। और राष्ट्र में

रोजगारी आदमी की जो औसत आय मानी गयी है, उससे भी यह कम है। यह नीचे लिखे अंकों से प्रकट होगा :

पेशों का नाम	आदमी की औसत वार्षिक आय
१. यातायात, रेलवे, बैंकें और बीमा	२२५०)
२. खानें और कारखाने	२२२५)
३. अन्य व्यापार और माल ढोने के साधन	१५१०)
४. शासन-यंत्र, अन्य धंधे, कला, कारीगरी	११६१)
५. छोटे उद्योग	८५०)
६. खेती और उससे सम्बन्धित पेशे	४३२)
७. सारे भारत की जनता की औसत आय	७१०)

जब तक हम खेती की फी एकड़ पैदावार बढ़ाकर किसान को कोई सहायक उद्योग नहीं दे देंगे, तब तक हम किसान के जीवन-मान को ऊँचा नहीं उठा सकेंगे। पशु-पालन किसान के लिए इस तरह का एक अत्यन्त स्वाभाविक सहायक उद्योग हो सकता है। बैल उसकी खेती में मदद करता है। गाय उसे दूध देती है, जो एक पोषक खूराक है और बेचने पर आय में भी वृद्धि हो सकती है। इसलिए किसानों को समझाया जाना चाहिए कि वे खेती के साथ-साथ कुछ पशु—खास तौर पर गायें—भी रखें, क्योंकि पालतू पशुओं में गाय सबसे अधिक उपयोगी पशु है।

किसान के आर्थिक जीवन में गाय उसका मूक किन्तु अनिच्छुक साथी बन गयी है। प्रकृति की व्यवस्था में भिन्न-भिन्न प्राणियों के बीच के सहयोग की वह मानो जीता-जागता प्रतीक

है। निम्नतर श्रेणी के जानवरों में यह सहयोग विचारपूर्वक नहीं होता। किन्तु सहज बुद्धि तो उन सबमें होती ही है। यही उस सहयोग का आधार होती है। परन्तु मनुष्य तो गाय का पालन खेती और गृह-जीवन में उसके महत्त्व को पूरी तरह समझकर ही करता है। इस तरह मनुष्य और शेष जीवसृष्टि के बीच के सहयोग का प्रतीक गाय बन गयी है। यह इन दोनों के बीच के सांस्कृतिक सम्बन्ध की भी प्रतीक है। इसीलिए हमारे देश में उसके प्रति इतना आदर और पूजा का भाव है।

समझने की जरूरत है कि हमारे देश का अपना एक समाजवाद है। उसमें गोवंश को हमने अपने समाज में ही स्थान दिया है, और गो-जाति का पूरा उपयोग लेकर उसको पूरा रक्षण देने की जिम्मेवारी हमने उठायी है। भारत के लिए यह एक बड़ी दीर्घ-दृष्टिवाली योजना है।

पशु-पालन में गाय का स्थान अद्वितीय है। भारत की खेती जोतने की आवश्यकता और दूध की आवश्यकता, दोनों बातें एक ही गोवंश से याने गाय और बैल से पूरी हो सकती हैं। लेकिन पाड़े में यह शक्ति नहीं है कि वह भारत के हर हिस्से की खेती की आवश्यकता पूरी कर सके। भारत की जो स्थिति है, उस स्थिति में ट्रैक्टर भी उसकी पूर्ति नहीं कर सकता। अतः हमारे लिए बैल अनिवार्य है। दूध देने की शक्ति भी भैंस के मुकाबले गाय में अधिक है, भले ही देखभाल के अभाव में आज की गाय दूध कम देती हो। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मानव के लिए गो-दुग्ध ही अधिक अनुकूल और लाभ-दायी है। सर्वोदय-समाज की अर्थ-रचना में हम विकेंद्रित अर्थ-

व्यवस्था द्वारा ग्राम-स्वावलंबन चाहते हैं। विकेंद्रित शक्ति भी आज हमारे पास बैल-शक्ति ही है। हमारी सारी रचना ही गो-केंद्रित अर्थ-व्यवस्था कही जा सकती है। इन सब दृष्टियों से भारत का हित इसीमें है कि मुख्य शक्ति गो-पालन पर ही लगायी जाय।

गाय तभी जीवित्त रह सकती है, जब उसे आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाया जा सके। गाय का संवर्धन इस प्रकार करना होगा, जिससे उसके बैल खेती जोतने की अच्छी शक्ति रखते हों और जोतशक्ति को घटाये बिना दूध का उत्पादन भी उसकी बछड़ियों में अधिक-से-अधिक बढ़े। दूसरी ओर यह भी करना होगा कि गोरस का मूल्य भी पूरा मिले और लोगों में गोरस के प्रति प्रेम बढ़े। उसकी खपत बढ़ाने के लिए उसके गुणों का प्रचार करना होगा और गोव्रतियों को उत्तेजन देना होगा। साथ-साथ यह भी करना होगा कि गोरस का भ्रम पैदा करनेवाले कृत्रिम दूध, मक्खन, घी आदि जमाये तेल के पदार्थों पर गोरस का रूप देने पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। उसी तरह बाहर से डिब्बे आदि में आनेवाले घी, दूध के आयात पर भी रोक लगानी होगी।

पश्चिम और पूर्व के गोपालन के भेद को स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है। पश्चिम में बैलों का उपयोग मांस के लिए किया जाता है। हमारे यहाँ बैल का उपयोग खेती जोतने के लिए होता है। पश्चिम में बेकार और कमजोर, रोगी या अनुत्पादक पशुओं का प्रश्न कत्ल एवं भक्षण द्वारा हल किया जाता है। लेकिन हमारे यहाँ कत्ल न करने का हमारा

निश्चय होने के कारण गोसदनों आदि द्वारा उनके पालन का और संयत प्रजनन द्वारा–कन्ट्रोल ब्रिडिंग–उनकी वृद्धि रोकने का तरीका निकालना होता है।

हमारे यहाँ आज गाय की जो दशा गिरी है, उसका सबसे बड़ा कारण चारे की कमी है। पुरानी पद्धतियों के बड़े-बड़े गोचर आज की स्थिति में संभव नहीं, हालाँकि हर गाँव में थोड़ी-थोड़ी गोचर भूमि कम-से-कम १० प्रतिशत अवश्य छोड़नी होगी। चरागाहों और जंगलों की घास की जातियाँ सुधारनी होंगी। 'मिक्स्ड फार्मिंग' बढ़ाना होगा। इन फसलों के साथ चारे की ऐसी फसलों को उत्तेजन देना, वृक्षों की पत्तियों एवं बेकार जानेवाली चीजों का उपयोग करना, 'रोटेशन' पद्धति दाखिल करना, कुट्टी करना, 'सायलेज' बनाना आदि तरीकों को काम में लेकर अन्न-नियोजन की तरह ही चारे का भी नियोजन करना होगा।

प्रजनन का विचार करते समय हमें इन बातों का स्मरण रखना चाहिए कि गाय से हमारी पहली आवश्यकता खेती जोतने के लिए बैल पैदा करने की है । ऐसा प्रयत्न करना होगा कि किसी भी प्रकार बैलों की जोतशक्ति कम न हो, उल्टे जितनी बढ़ सके, बढ़े। बैलों के साथ-साथ हमारी दूसरी आवश्यकता दूध की है। आज भारत में हर आदमी को प्रायः ४ औंस–१० तोला–दूध मिलता है, जब कि उसे कम-से-कम २० औंस–५० तोला–मिलना चाहिए। याने आज से पाँच-गुना दूध बढ़ाना चाहिए। इस स्थिति को लाने के लिए यह आवश्यक है कि गाँव की पूरी जमीन गाँव-समाज के अधीन

हो और गाँव का पूरा जीवन विकेन्द्रित ग्रामोद्योगों के आधार पर हो एवं 'मिक्स्ड फार्मिंग' की पद्धति पर उसका नियोजन किया जाय। प्रजनन में 'सिलेक्टिव ब्रिडिंग' को प्रमुख स्थान रहे। जहाँ अत्यन्त आवश्यकता हो, वहीं दूध-वृद्धि की दृष्टि से 'क्रास ब्रिडिंग' किया जाय। फिर भी यह खयाल रखना होगा कि जोत शक्ति कम न हो। जिस स्थान में जो बैल वहाँ की खेती के लिए सर्वोत्तम हो, वहाँ उसी स्थानीय गो-वंश को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जाय। अपात्र सांडों को वधिया किया जाय एवं ग्राम-नस्ल-सुधार-योजनाएँ अमल में लायी जायँ।

गाँव-सभाओं को यह प्रवन्ध करना होगा कि कमजोर और सूखे जानवरों को लोग खुले न छोड़ें अथवा बूचड़खानों में न भेजा करें। सूखी गायों का वध जंगलीपन है। इसे रोकना चाहिए। अनुत्पादक पशुओं के दो विभाग कर सकते हैं। बूढ़े, कमजोर, अपंग पशुओं का एक विभाग और मजबूत लेकिन कम दूध देनेवाली गायों का दूसरा विभाग। बूढ़े एवं कमजोर पशुओं का पालन लोग स्वयं कर सकें, ऐसा प्रयत्न किया जाय। जहाँ वैसा संभव न हो, वहाँ गोसदन, पिंजरापोल एवं गोरक्षण-संस्थाओं द्वारा किया जाय। उनका खर्च गोशालाओं के लाग-बाग, बुढ़ापे के बीमे आदि से चलाया जाय। कम दूध देनेवाली, लेकिन मजबूत गायों से खेती जोतने आदि का उनकी शक्ति के अनुसार हलका काम लिया जाय। इन पशुओं के मरने पर उनकी हड्डी, मांस, चमड़े आदि का पूरा-पूरा उपयोग लिया जाय। उसके लिए चर्मालयों की स्थापना की जाय।

बड़े-बड़े शहरों में आज बढ़िया से-बढ़िया गायें, भैंसें जाती हैं और दूध सूखने पर वहाँ पालन की सुविधा न होने के कारण वे कसाई के हाथों बिक जाती हैं। उनकी प्रजनन शक्ति कम हो जाती है, बछड़े-बछिया नष्ट हो जाती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि उनको जल्दी-से-जल्दी वहाँ से हटाकर जहाँ भूमि की सुविधा हो, ऐसे देहातों में ले जाया जाय। जहाँ उनका पालन आर्थिक दृष्टि से संभव हो सके, वहीं उन्हें रखा जाय और वहाँ से शहरों में दूध पहुँचाया जाय। खेती और गाय का संबंध सिक्के के दो बाजू की तरह अभिन्न है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। गाय से खेती और खेती से गाय जिंदा रहती है।-जो गोबर शहरों में गंदगी फैलाकर रोग पैदा करता है, वही देहातों की भूमि में सोनखाद बनकर फसल बढ़ाता है। अतः बड़े शहरों से दुधारू पशुओं को तुरन्त हटाना होगा।

आज की कीमती एलोपैथिक चिकित्सा भारत के गरीब देहातों के लिए बहुत महँगी है और परावलंबी भी। देहातों के लिए अनुकूल और वहीं की स्थानीय वस्तुओं से बनी औषधियों की खोज होनी चाहिए। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति को आगे बढ़ाना चाहिए। एलोपैथी में जो दवाइयाँ किसान के बूते की हों और उपयोगी हों, उनका लाभ उठाया जा सकता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से गाँवों में सबसे अधिक आवश्यकता पशुओं के लिए पीने के स्वच्छ जल की है। गंदे पानी द्वारा गायों के शरीर में रोग प्रवेश करते हैं।

गो-पालन-शिक्षण को बुनियादी शिक्षण मानकर शिक्षण-

संस्थाओं में गो-पालन की शिक्षा दी जानी चाहिए। गो-पालन के विशेष शिक्षण की स्वतंत्र व्यवस्था हो, जिस शिक्षण का मकसद यह हो कि किसान अपने घर में या गाँव में वैयक्तिक या सामुदायिक गो पालन प्रत्यक्ष रूप से कर सकें। ◆◆◆

: ४ :

उद्योग

सर्वोदय-योजना के मूलभूत सिद्धान्त और इसके लक्ष्य पिछले अध्यायों में दिये जा चुके हैं। उनके देखने पर किसीके मन में अब इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि हमें अपने समाज की मौजूदा अर्थ-व्यवस्था को जड़ से बदल देना है और एक नयी व्यवस्था कायम करनी है, जो विकेन्द्रीकरण, स्वावलम्बन और हर मनुष्य के लिए पूरा काम, इन सिद्धान्तों पर आधारित होगी। विकेन्द्रीकरण का अर्थ योजना-शून्यता अथवा पारस्परिक सहयोग या सहकारिता का अभाव नहीं है। विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह भी नहीं कि जहाँ-तहाँ स्वच्छन्दता-पूर्वक उद्योग खड़े होते रहेंगे और वे अपने प्रदेश की जरूरतों और साधनों का अथवा उत्पादन के दूसरे क्षेत्रों में चल रही प्रवृत्तियों का कोई खयाल नहीं करेंगे। वास्तव में योजना के अन्दर इन सब बातों का पूरा विचार होगा। वहाँ सम्बन्धित प्रदेश की जरूरतों को देखकर ही उत्पादन किया जायगा।

यही नहीं, बल्कि आसपास के प्रदेशों की जरूरतों और उत्पादन-शक्ति का परस्पर मेल भी बैठाया जायगा और ऐसे औजारों से काम लिया जायगा कि जिनकी मदद से अधिक-से-अधिक आदमियों को काम दिया जा सके और साथ ही उत्पादन भी पूरा-पूरा हो। उत्पादन के साधन किन्हीं खानगी व्यक्तियों के हाथ में न पहुँच जायँ और समाज शोषण का शिकार न बन जाय, इस सबकी पूरी सावधानी बरती जायगी। ऐसा विकेन्द्रीकरण केवल भौगोलिक दृष्टि से उद्योग-केन्द्रों को दूर-दूर स्थापित कर देनेभर से सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार वह मौजूदा ग्रामोद्योगों की नींव पर भी नहीं खड़ा किया जा सकता। क्योंकि ये तो आज कारखानों की प्रतियोगिता की मार के कारण और वैज्ञानिक सहायता के अभाव में मौत के दरवाजे पर पड़े हैं। विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह भी नहीं कि घड़ी के काँटों को उल्टा घुमाकर समाज को असभ्य जंगली अवस्था में केवल छोड़ दिया जाय। योजना यान्त्रिक प्रगति से अपने-आपको वंचित भी नहीं रखना चाहती। उल्टे उसकी तो इच्छा यह है कि वह विज्ञान और यन्त्र-शास्त्र का पूरा-पूरा लाभ उठाये। और बेकारी तथा शोषण को मिटाकर अधिक-से-अधिक लोगों को काम देकर उत्पादन को खूब बढ़ा सके। मतलब यह कि यह योजना उद्योगीकरण की सारी कल्पना को बदल देना चाहती है और यन्त्रों के उपयोग के मूलहेतु को ही पलट देने पर तुली हुई है।

उत्पादन की यह विकेन्द्रित व्यवस्था केन्द्रित व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायक है। सबसे पहली बात उत्पादन के साधन मुट्ठीभर आदमियों के अधिकार में न होंगे, जिससे

समाज एकाधिकार, पूंजीवाद और सर्वसत्तावाद से बच जायगा। दूसरे, काम करने के औजार कारीगरों के अपने अधिकार में होंगे। इससे मालिक-मजदूर का भेद मिट जायगा। कोई किसीको काम देता है, यह कल्पना ही मिट जायगी। जो काम नहीं करेगा, उसे पारिश्रमिक ही नहीं मिलेगा। परिश्रम करने-वाले को निर्माण का आनन्द मिलेगा और वह अपनी आजादी नहीं खोयेगा। इससे बेकारी भी मिटेगी और उत्पादन भी बढ़ेगा। इसके अलावा चूंकि प्रत्येक प्रदेश अपनी जरूरत की चीजें यथासंभव खुद पैदा कर लिया करेगा, इसलिए उत्पादन और कच्चे माल को कारखानों तक पहुँचाने तथा बने-बनाये माल को ग्राहकों के पास पहुँचाने की सारी झंझट और व्यवस्था-खर्च बच जायगा। और केन्द्रित उत्पादन पर कारखानों पर जो बेशुमार खर्च करना पड़ता है, उसमें काफी बचत हो जायगी, क्योंकि केन्द्रित उद्योगों की अपेक्षा विकेन्द्रित उद्योगों में निश्चय ही कम लागत लगेगी।

इस पद्धति से एक और भी लाभ होगा। पूँजी और उत्पादन तथा पूँजी और रोजगारी के बीच का अनुपात विकेन्द्रित पद्धति में बड़ा लाभदायक होगा। लोगों के दिमाग में एक बड़ी जबरदस्त गलत धारणा घर किये बैठी है कि यन्त्रोद्योगों से बेकारी मिटती है। नीचे कुछ अंक दिये जा रहे हैं। सन् १९४७ से १९५३ तक कारखानों में कितने आदमी काम करते थे, यह इसमें स्पष्ट होगा। इन्हें पढ़ने पर यह स्पष्ट होगा कि केन्द्रित उद्योगों के हिमायती न तो जमीन का बोझ हलका करने में सफल हुए हैं और न बेकारी को ज़रा भी मिटाने में।

	१९४७	१९५०	१९५३
वर्तमान रजिस्टर्ड कारखाने	५,६३२	७,०९९	७,१०४
लागत पूंजी (लाखों में)	१,७७,१७	२,५८,१५	३,२४,९२
काम चलाने की पूंजी ,,	२,२६,२७	३,५६,३८	४,०३,७४
काम में लगायी कुल पूंजी,,	४,०३,४४	६,१४,५३	७,२८,६६
काम करनेवाले मजदूर (हजारों में)	१४,८७	१४,६८	१४,७१
काम करनेवाले अन्य लोग ,,	१,४६	१,६४	१,५७
कुल आदमी जो लगे हैं ,,	१६,३३	१६,३२	१६,२८

यही काम अगर विकेन्द्रित पद्धति से किया जाय, तो कितने अधिक आदमियों को विविध प्रकार का काम मिल सकता है, सो देखिये। हाँ, इनको सुधरे हुए औजार या छोटे-छोटे यन्त्र जरूर दिये जायँगे :

अनुमान—बेकारी मिटाने का

उद्योग	अनुमानित व्यय लाखों में	कितने आदमी काम करेंगे	कितने समय का काम
१. सूत हाथ करघा	८,०००	२५ लाख	पूरा समय
२. रेशम ,,	५००	२·५ ,,	,,
३. ऊन ,,	३००	१·० ,,	,,
४. ऊन की कताई-बुनाई (खादी)	२२०	३०,०००	आंशिक
५. सूत की ,, ,, (खादी)	२,३००	२ से ३ लाख	,,

६. हाथ-कुटे चावल	८२६	१० लाख	मौसम में
७. तेलघानी	१,३००	१,५०,००० तेली (पुरानी घानी) ५०,००० तेली (नयी घानी)	पूरा समय ,,
८. चमड़ा उद्योग (गाँवों का)	६१५		पूरा समय अधिक आय
९. गुड़ और खाण्डसारी	८००	३८,०००	पूरा समय
१०. दियासलाई	१००	+	,,
११. अन्य ग्रामोद्योग	१,१००	१०,००० १,००,०००	आंशिक पूरा समय
१२. दस्तकारियाँ	१,१००	१,४०,०००	,,
१३. छोटे उद्योग	६,५००	३६,०००	,,
१४. रेशम की उत्पत्ति	६००	१,६०,०००	,,
१५. नारियल की रस्सी	२००	६०,०००	,,
१६. जनरल योजनाएँ, उनका तंत्र, संशोधन आदि	१,५००	२५,००० १५,०००	,, ,,
	२५,९६१		

+ इस उद्योग पर किये जानेवाले खर्च का उपयोग दियासलाई के सुधार में और उसकी कीमत घटान में किया जायगा। इससे वहुत अधिक लोगों को काम नहीं मिलेगा।

खादी और ग्रामोद्योगों में लागत और रोजगारी की वृद्धि

अ उद्योग	कुल लागत (लाखों में)	रोजगारी
१. खादी		
(क) कपास	१८,९८७·०९	५१·३ लाख
(ख) ऊन	४५२·८५	३२,२५०
२. हाथकुटे चावल	४,२४४·४१	१३·१ „
३. तेलघानी	१,८३७·९५	२·० „
४. गुड़ और खाण्डसारी	१,९४३·९७	२·४२ „
५. चमड़ा उद्योग (ग्रामीण)	५३९·७५	३०,०००
६. गृहोद्योगी—दियासलाई	१६५·२५	६९,०००
७. साबुन	९४५·४७	२·२८ „
८. हाथ कागज	१३३·६२	१२,०००
अ का योग	२९,२५०·३६	७२·५३ „
आ		
९ ताड़-गुड़	१,५२९·८६	२·६ „
१०. मधुमक्खी-पालन	९२·०२	१९,३७५
११. कुंभार-काम	१४·५१	८,०००
आ का योग	१,६३६·३९	२·८७ „
इ		
सघन क्षेत्र में संशोधन और प्रशिक्षण	८१८·५१	—
कुल योग	३१,७०५·२६	७५·४ „

ऊपर दी गयी तालिकाओं से यह स्पष्ट हो जायगा कि नियोजित उत्पादन कार्यक्रम के माध्यम से लोगों को अधिक-

से-अधिक काम देने का उपाय निकल आ सकता है। यदि उपभोग्य सामग्री के उत्पादन की यान्त्रिक और केन्द्रीकृत एवं विकेन्द्रित, दोनों प्रणालियों को साथ-साथ चालू रखने के बजाय सभी प्रकार की उपभोग्य सामग्री का उत्पादन विकेन्द्रित उद्योग-पद्धति पर किया जाय, तो लोगों के लिए पूर्ण और लाभप्रद धन्धे की सुविधाएँ बहुत अधिक बढ़ जायँगी। यहाँ तक कि शहरों में भी रोजगार की सुविधा पर्याप्त रूप से बढ़ सकती है, यदि 'होजियरी' तथा खेल-कूद आदि के सामान बनाने का काम विकेन्द्रित पद्धति से किया जाय।

इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सर्वोदय-योजना का अभीष्ट विकेन्द्रीकरण तभी सिद्ध होगा, जब वर्तमान उद्योग-प्रणाली और यन्त्र-शास्त्र का एक दृढ़ निश्चय के साथ कायापलट किया जायगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सर्वोदय में मालिक-मजदूर जैसे वर्ग नहीं होंगे। मालिक ही मजदूर होगा और मजदूर ही मालिक भी होगा, क्योंकि औजारों पर काम करनेवालों का स्वामित्व होगा और अपने परिश्रम के फल का उपभोग भी वे खुद करेंगे। समाज की जरूरतों को देखकर और न्यायपूर्ण बँटवारे के आधार पर उत्पादन होगा। आज की उद्योग-प्रणाली में उत्पादन बड़े पैमाने पर और केन्द्रित है, और वह या तो मुट्ठीभर कारखानेदारों के या सर्वसत्ताधीश राज्य के अधीन है। समाज और प्रादेशिक अधिकारी इसके स्थान पर नयी व्यवस्था कायम करेंगे, जिसका आधार होगा, सहयोग और जिसमें मालिक-मजदूर जैसे वर्ग न होंगे। सर्वोदय-अर्थ-व्यवस्था के तीन अंग होंगे :

(१) स्वतंत्र रूप से काम करनेवाले कारीगर, जिनके पास अपने खुद के औजार होंगे।

(२) सहकारी क्षेत्र—इसमें भी कारीगरों के पास उत्पादन के अधिकांश साधन तो उनके अपने ही होंगे, परन्तु जिन साधनों को वे व्यक्तिगत रूप से खरीद न सकेंगे, उसमें सहयोग कर लेंगे। समाज इनके लिए ऐसे साधन मुहैया कर देगा और उन्हें कारीगरों की सहकारी संस्थाओं के अधिकार में दे देगा। इन पर स्वामित्व तो समाज का ही होगा। परन्तु सहकारी समितियाँ इनके रोजमर्रा संचालन के लिए जिम्मेवार होंगी।

(३) सामाजिक क्षेत्र—इसके अन्दर समाज या शासन पूर्णरूपेण उद्योग का संचालन करेंगे—कच्चा माल उपलब्ध करने से लेकर तैयार माल की बिक्री वगैरा की व्यवस्था तक सब। यह आवश्यक नहीं है कि इन उद्योगों की व्यवस्था और संचालन प्रशासनाधिकारी स्वयं करें। जहाँ तक सम्भव हो, उनकी व्यवस्था और शासन की जिम्मेदारी सामाजिक स्वामित्व के अन्य साधनों,जैसे नगरपालिकाओं या अन्य सार्वजनिक संस्थाओं पर होनी चाहिए।

स्वतंत्र क्षेत्र समाज की जरूरत की चीजें पैदा करेगा। इसके अन्दर वे तमाम उद्योग आ जायँगे, जिनमें कारीगर अपने प्रयत्न से कच्चा माल प्राप्त कर अपने परिश्रम से तैयार माल बना सकेंगे। इसके अन्दर काम में आनेवालें औजार उनके अपने होंगें और जहाँ सारा काम अच्छी तरह और किफायत से वे कर सकेंगे।

जिन उद्योगों में भारी-भरकम यन्त्रों की जरूरत न होगी,

ऐसे मझले उद्योग दूसरी श्रेणी में आयेंगे, जिनका संचालन विकेन्द्रित पद्धति द्वारा किफायत से हो सकता है। इसमें ऐसे औजारों या यन्त्रों से काम लिया जायगा, जो उस प्रदेश में ही बनाये जा सकेंगे और जिन पर व्यक्तियों का अपना-अपना या सम्मिलित स्वामित्व होगा। उत्पादन की सारी क्रियाओं का संगठन-संचालन सहकारी समितियों द्वारा होगा। हाँ, जो औजार व्यक्ति रख सकेंगे, वे उनके अपने ही होंगे। स्थानीय कच्चे माल से जहाँ विविध क्रियाओं द्वारा तैयार माल बनाया जा सकता है, ऐसे तमाम उद्योगों का संगठन-संचालन सहकारी समितियों का क्षेत्र करेगा। भारी केन्द्रित उत्पादनवाले कारखानों में बने तथा क्षेत्र के स्वतंत्र कारीगरों द्वारा तैयार किये गये पुर्जों को जोड़कर पूरे यन्त्र खड़े करने का काम भी इस श्रेणी के उद्योगों में होगा।

सामाजिक क्षेत्र में भारी उद्योग होंगे और ऐसे भी उद्योग होंगे, जिनका संगठन आंतरप्रादेशिक सहयोग के बगैर नहीं हो सकता और जो ऐसे यन्त्रों की मदद के बगैर नहीं चलाये जा सकते, जिनमें केन्द्रीकरण की जरूरत होती है। इस श्रेणी में लोहा और इस्पात के बड़े-बड़े कारखाने, जहाजरानी, यान्त्रिक यातायात, धातुओं और यन्त्र बनाने सम्बन्धी कारखाने और संक्रमण-काल के लिए आवश्यक सुरक्षा-सामग्री। परन्तु इस क्षेत्र का मुख्य उद्देश्य पहली और दूसरी श्रेणी के कारीगरों और यन्त्रों की जरूरतों की पूर्ति करना तथा ऐसे काम करना भी होगा, जो इन पहली दो श्रेणी के उद्योगों की शक्ति के बाहर हों। इस प्रकार इस श्रेणी के उद्योग सस्ते, अच्छी तरह काम देनेवाले और

निश्चित आकार-प्रकार और मजबूतीवाले पुर्जे बनाकर देंगे। और पहली दो श्रेणी के उद्योगों की मदद करेंगे। ये यान्त्रिक यातायात और सार्वजनिक सेवा के साधन बनायेंगे और अंत में ऐसी वस्तुएँ बनायेंगे, जिनको पहली दो श्रेणी के उद्योग नहीं बना सकते, किन्तु जिन्हें बनाकर देश के वाहर भेजना तय हो।

स्वतंत्र कारीगरों और सहकारी समितियों को आसान शर्तों पर आवश्यक मात्रा में कर्ज दिलाना, उनके लिए कच्चा माल मुहैया कर देना, हर प्रकार की शास्त्रीय जानकारी उपलब्ध कर देना और तैयार माल बन जाने पर उसकी बिक्री का उचित प्रबन्ध कर देना वगैरा को शासन और ग्राम-सभा अपना कर्तव्य मानेंगे।

उद्योगसम्बन्धी नीति का एक मुख्य कर्तव्य यह भी होगा कि देश की खनिज सम्पत्ति का पूरा-पूरा उपयोग किस प्रकार किया जाता है। किन्तु साथ ही इसमें यह ध्यान भी रखा जायगा कि अति लोभ में आकर इस सम्पत्ति का इतना नाश न हो जाय कि जिससे उसकी पूर्ति न हो सके और समाज के व्यापक हितों को हानि पहुँच जाय। देश की इस खनिज संपत्ति का विकास और उपयोग करने की जिम्मेवारी समस्त राष्ट्र की होगी। अतः उद्योग-नीति के संचालन में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा कि उद्योग-क्षेत्र की जरूरतों को देखकर ही खनिज द्रव्यों का विकास किया जाय।

संक्रमण-अवस्था

अब सवाल यह खड़ा होता है कि इस संक्रमण-काल में

उद्योग-प्रणाली को किस प्रकार चलाया जाय। सबसे पहले ऊपर बतायी तीनों श्रेणियों के उद्योगों के क्षेत्र मुकर्रर कर देना होगा। इसके साथ ही प्रत्येक श्रेणी कौन-कौन-सी चीजें पैदा करेगी, उत्पादन की पद्धति क्या होगी और उसकी तादाद क्या होगी, यह भी स्पष्ट रूप से निश्चित कर देना होगा। इसके वाद प्रत्येक श्रेणी को उसके लिए निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने में मदद करनी होगी और इसमें यह सावधानी रखनी होगी कि एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र पर आक्रमण न करने पाये।

आज कितने ही बड़े और केन्द्रित प्रणाली से चलनेवाले कारखाने हैं और वे ऐसी चीजें पैदा कर रहे हैं, जिन्हें हमने स्वतंत्र कारीगरों और सहकारी समितियों के द्वारा उत्पादन करने का सोचा है। तो हम इन कारखानेवालों को समझायेंगे कि वे अपने-आपको विकेन्द्रित कर लें और हमारी दूसरी श्रेणी में बैठ सकें, इस प्रकार अपना संगठन बना लें।

जमीन पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हटाने की हलचल जैसे-जैसे जोर पकड़ेगी और लोग बड़ी संख्या में जमीनों पर से अपना स्वामित्व छोड़ने लगेंगे, वैसे-वैसे इसका असर उद्योग-क्षेत्र पर भी जरूर पड़ेगा और कारखानेदार भी जमींदारों का अनुकरण करने लगेंगे तथा कारखानों पर से अपना स्वामित्व छोड़ने लगेंगे। फिर निजी संपत्ति की प्रथा न्याय पर नहीं, अन्याय के आधार पर खड़ी है, इसका भान जब मजदूरों को बहुत बड़ी संख्या में हो जायगा, और जब वे निजी सम्पत्ति पर से अपना स्वामित्व स्वयं हटा लेंगे, तब उनके अन्दर एक ऐसी शक्ति जाग जायगी, जो ऐसे वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ होगी, जिसमें

उद्योगपति स्वयं उत्पादन के साधनों पर से अपना स्वामित्व छोड़ने को मजबूर हो जायँगे।

इतने पर भी कारखानों के जो मालिक अपना स्वामित्व छोड़ने से इनकार करते रहेंगे, समाज उनके कारखानों को अपने अधिकार में ले लेगा और उन्हें जमीन के मालिकों की भाँति उसके बदले में पुनर्वास-भत्ता दे देगा। यह भत्ता किस रूप में होगा, उसकी तादाद क्या होगी और हर व्यक्ति को कितना दिया जायगा, इस बारे में खेतीवाले अध्याय में कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। कारखानों का मुआवजा देते समय भी वही विचार ध्यान में रखे जायँगे।

इस बीच नये कारखाने खोलने और अन्य श्रेणी के उद्योगों के लिए जिनका उत्पादन सुरक्षित कर दिया है, उन वस्तुओं के निर्माण में लगे हुए केन्द्रित कारखानों में यन्त्रों के घिसे हुए पुर्जों को बदलने और अधिक यन्त्र बढ़ाने के काम को रोक दिया जायगा और स्वतंत्र कारीगरोंवाली तथा सहकारी समितियोंवाली श्रेणियों की स्थापना और विकास को प्रोत्साहन दिया जायगा। किन्तु यह ध्यान रखा जायगा कि आर्थिक दृष्टि से वे समाज के लिए नुकसानदेह न हों। इस हेतु से तीनों श्रेणियों के लिए उनके क्षेत्र निश्चित कर दिये जायँगे। इसके मानी यह नहीं कि स्वतंत्र कारीगरों और सहकारी समितियों के लिए उत्पादन की जो वस्तुएँ निश्चित कर दी जायँगी, उनका उत्पादन कारखाने और मिलें एकदम बन्द कर देंगी। ऐसा करने से तो उद्योग-प्रणाली एकदम ठप हो जायगी, यदि इसके साथ-साथ पहले इन श्रेणियों की उत्पादन-शक्ति बढ़ा नहीं दी जायगी।

इसलिए बीच के संक्रमण-काल में केन्द्रित प्रणाली के उद्योगों और स्वतंत्र कारीगरों और ग्रामोद्योगों के बीच और इस काल में इनकी संख्या काफी बढ़ा लेनी होगी। उत्पादन का एक सम्मिलित और समन्वित कार्यक्रम बना लेना जरूरी होगा।

इस समन्वित कार्य में समाज के लिए किसी भी वस्तु को आवश्यक मात्रा में बनाने में सभी श्रेणी के उद्योग सहयोग करेंगे। किन्तु इसमें यह ध्यान जरूर रखा जायगा कि इन सब वस्तुओं की कीमत में समानता रहे। यह अनेक प्रकार से किया जा सकता है। अगर हम यह देखें कि बड़े कारखानों या मिलों का माल विकेन्द्रित पद्धति से बनाये माल के मुकाबले में सस्ता पड़ता है, तो हम बड़े कारखानों के माल पर कर लगा सकते हैं और अगर यह कर लगाने पर और उत्पादन के क्षेत्र सुरक्षित कर देने पर भी अगर स्वतंत्र कारीगर और सहकारी उद्योग-समितियाँ अपने पैरों पर खड़ी न हो सकें, तो राज्य इन सहकारी समितियों से कहेगा कि अपने माल को वे जहाँ भी बेच सकें, बेचने का खुद प्रबन्ध करें और इसमें उनको अगर अपना माल कारखानों के भाव में बेचने पर घाटा होगा, तो उसकी पूर्ति खुद राज्य कर दिया करेगा।

यह सच है कि इसका मतलब तो स्वतंत्र कारीगरों और सहकारी उद्योग-समितियोंवाली श्रेणी को प्रत्यक्ष मदद करने जैसा होगा। परन्तु इसमें कुसूर की क्या बात है, जब कि हमारी योजना डंके की चोट कहती है कि हम इन श्रेणियों को आर्थिक दृष्टि से मजबूत नींव पर खड़ा कर देना चाहते हैं। फिर अगर नीचे के अंकों को आप ध्यान से पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि शासन की

नीति बड़े कारखानों के साथ रिआयत करने और उन्हें मदद पहुँचाने की तथा छोटे उद्योगों को जान-बूझकर नष्ट करने या उनकी उपेक्षा करने की रही है। तब, अगर अब समाज अपनी उद्योग-नीति को आमूल बदलना चाहता है, तो वह भी विकेन्द्रित उद्योगों को इसी प्रकार मजबूत नींव पर खड़ा कर सकता है और इसमें किसीको शिकायत न होनी चाहिए।

अ. महायुद्ध के पहले जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया :

उद्योग	संरक्षण का वर्ष	सं० के पहले उत्पादन	संरक्षण के बाद १९५४	टिप्पणी
१. कपास का सूत और वस्त्रोद्योग	१९२७ १९४७	८०·७ करोड़ पौंड २,२५·९ ,, गज	१५६·४ ५००·०	
२. लोहा और इस्पात का उद्योग	१९२४ १९२७	१·३१ लक्ष टन	१५·३२	
३. कागज	१९२५ १९४७	·२७ लक्ष टन	·६०	जन० से अवतू०'५४
४. चीनी	१९३१ १९५०	१·५८ ,,	८·३६ ,,	
५. दियासलाई	१९२८	२·१४ लक्ष पेटियाँ	४·९०	

(एक पेटी में ५० ग्रूस डिबिया)

आ. इ. महायुद्ध के बाद जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया :

(क) धातु सम्बन्धी उद्योग

उद्योग	संरक्षण का वर्ष	सं० के पहले उत्पादन	संरक्षण के बाद
ऐल्यूमेनियम उद्योग	१५-५-'४८	१,०७० टन	४,८८६.

फेरो सिलिकन उद्योग	१०-५-'४८ ३१-१२-'५३	१,१६६ टन	३,८११	१९५३ में
(ख) रासायनिक आदि				
सोडे की राख का उद्योग	२२-२-'५०	१७,९१८ टन	४८,२९३	
स्टार्च का उद्योग	१२-४-'५०	१,३५० ,,	१९,५६२	१९५३ में
(ग) इंजीनियरिंग के उद्योग				
बाइसिकल उद्योग	२२-३-'४७	४२,९८४ संख्या	३,४८,६६६	
बिजली की मोटरों का उद्योग	१२-४-'४८	८,९१३ ,,	३१,२८८	
हरीकेन लालटेनों का उद्योग	२५-१-'४७ ३१-१२-'५४	४·७० लक्ष	४६·०४	
सीने की मशीनों का उद्योग	२२-३-'४७ ३१-१२-'५४	६,८७१ संख्या	८०,२९९	

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ऊपर जो तालिका दी गयी है, उसमें उन सभी उद्योगों का उल्लेख नहीं किया गया है, जिन्हें सरकार द्वारा संरक्षण प्राप्त है। इस तालिका से यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि विभिन्न उद्योगों को किस अंश तक सरकारी संरक्षण प्राप्त है। इससे केवल इतनी ही बात प्रकट होती है कि जिन बहुत-से उद्योगों ने पिछले २० वर्षों के अन्दर प्रगति की है, वे अधिकतर सरकारी संरक्षण और सहायता पर ही बढ़ सके हैं।

यह सच है कि गृहोद्योगों और ग्रामोद्योगों को इस तरह जो मदद दी जायगी, उसका बोझ उपभोक्ता और करदाता पर ही पड़ेगा। परन्तु उपर्युक्त अंकों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ये गरीब तो बड़े उत्पादनवाले उद्योगों के इस बोझ को चौथाई शताब्दी से उठाते आ रहे हैं। इसलिए जब हम ९२'८ प्रतिशत जनता को पूरा रोजगार देने तथा उसका जीवनमान ऊँचा करने के लिए यही कदम उठाना चाहेंगे, तो उसकी प्रतिक्रिया कोई भिन्न होगी, ऐसी बात नहीं है।*

ऐसा हो सकता है कि संक्रमण-काल के प्रारम्भ में सहकारी क्षेत्रों द्वारा उत्पादित सामग्री महँगी हो और वहुत-से मामलों में केन्द्रीकृत क्षेत्रों (कारखानों) द्वारा उत्पादित सामग्री के मुकाबले कम अच्छी हो। लेकिन यदि सामग्री के उत्पादन के प्रसंग में सामाजिक मूल्य (Social Cost) पर भी विचार किया जाय, तो केन्द्रीकृत क्षेत्र (कारखाने) द्वारा उत्पादित सामग्री सहकारी क्षेत्र द्वारा उत्पादित सामग्री की तुलना में सस्ती नहीं पड़ेगी। इसके साथ ही सुधरे हुए यान्त्रिक कौशल और यन्त्र नयी व्यवस्था में सुलभ किये जायँ तथा इन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने में शासन सहायता करे, तो सहकारी क्षेत्रों द्वारा उत्पादित सामग्री, केन्द्रीकृत क्षेत्रों (कारखानों) द्वारा उत्पादित सामग्री की तुलना में न तो हीन ठहरेगी और न महँगी पड़ेगी। यह अवस्था अर्थात् सहकारी क्षेत्रों की सहायता तभी तक आवश्यक होगी, जब तक कि एक ही सामग्री सहकारी

---

* ईस्टर्न एकानॉमिस्ट प्रकाशन के "रेकार्ड्‌स स्टेटिस्टिक्स" वॉल्यूम ६, सं० ३, पृ० २७-२८ से।

क्षेत्र तथा केन्द्रीकृत क्षेत्र (कारखाने) द्वारा उत्पादित हो और दोनों में प्रतिद्वन्द्विता चल रही हो।

स्पष्ट है कि जो शासन विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था कायम करना चाहता है, उसे विकेन्द्रीकरण की दिशा में अपनी उद्योग-नीति को असंदिग्ध रूप में बदलना ही होगा। जैसा कि पहले बता दिया गया है, उसे उत्पादन के क्षेत्र बाँट देने होंगे और स्वतंत्र कारीगरों तथा सहकारी उद्योग-समितियों के लिए सुरक्षित उद्योगों के क्षेत्र में काम करनेवाले केन्द्रित उद्योगों को क्रमशः विसर्जित कर देने के हेतु से संक्रमण-काल के लिए उत्पादन का कोई समन्वित कार्यक्रम भी बना लेना होगा। इसी प्रकार इनके द्वारा बनी चीजों की कीमतों में समानता लाने का यत्न भी करना होगा और जो संरक्षण अथवा आश्रय केन्द्रित उद्योगों को दिया जा रहा है, वह अब स्वतंत्र कारीगरों तथा सहकारी समितियों के क्षेत्रों में काम करनेवाले उद्योगों को देना होगा। जब तक साफ-साफ तौर पर ऐसी नीति कायम करके उस पर अमल नहीं किया जायगा, केवल कुछ करोड़ की सहायता देने से विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था कायम हो जायगी, यह उम्मीद करना बेकार है।

जहाँ तक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, सन् १९४८ के उद्योग-नीतिवाले वक्तव्य और हाल ही में जो संशोधन उसमें किया गया है——इनसे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वर्तमान संशोधन से तो मात्र शासकीय क्षेत्र का विस्तार किया गया है और बहुत-से उद्योगों में खानगी और शासकीय, दोनों का सम्मिलित नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है। हम यह मान सकते हैं कि खानगी क्षेत्र को अधिक सीमित कर दिया गया है। किन्तु उत्पादन की

केन्द्रित उद्योग-पद्धति की नीति में कोई बुनियादी फर्क नहीं किया गया है। और न कर्वे-समिति की सिफारिशों को उसमें स्वीकार कर उन्हें सम्मिलित किया गया है। अम्बर चरखे के बारे में शासन ने जो रुख अख्तियार किया है, उससे भी यह स्पष्ट है कि जहाँ उत्पादन का साधन अच्छा है, वहाँ भी सरकार विकेन्द्रीकरण को स्वीकार नहीं करना चाहती।

औद्योगिक संगठन और प्रबन्ध

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नयी उद्योग-प्रणाली में तीन श्रेणियाँ होंगी। स्वतंत्र कारीगरवाली श्रेणी में उत्पादन के जो भी साधन होंगे, उन पर कारीगर का अपना स्वामित्व होगा। जिन साधनों को व्यक्ति खरीद नहीं सकेंगे, उन पर समाज का स्वामित्व होगा। उत्पादन की विविध प्रक्रियाओं की देखभाल और संचालन सहकारी उद्योग-समिति या उसकी शाखाएँ करेंगी। तीसरी अर्थात् सामाजिक श्रेणी में उद्योग पर पूर्णरूपेण समाज का, राज्य का या उद्योग-संस्थानों का स्वामित्व होगा। परन्तु रोजमर्रा के कार्य का संचालन कामगारों के हाथों में ही होगा। चूँकि इनके द्वारा तैयार किये गये माल की कीमतों का असर संपूर्ण समाज पर होगा, इसलिए कीमतों का निश्चय करनेवाली कमिटी में उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि भी होंगे। कीमतों का निर्णय इस प्रकार किया जायगा कि उसमें से उत्पादन का खर्च निकल आये, उद्योग में काम करनेवाले कामगारों को उचित पारिश्रमिक—कम-से-कम निर्वाह योग्य—मिल जाय और इसके अलावा उसमें से इतनी बचत हो सके

कि जिसका एक हिस्सा उद्योग में नये-नये संशोधन के लिए दिया जा सके, एक हिस्सा उद्योग के संचालन के लिए उपलब्ध रहे और शेष राज्य की आय में उद्योग की तरफ से राजस्व के रूप में दिया जा सके।

गाँव-सभा को इस बात पर सतर्कतापूर्वक ध्यान रखना होगा कि कीमतों में बहुत ज्यादा चढ़ाव-उतार न हो तथा सामान्य मूल्य स्तर बराबर कायम रहे। इस कार्य के लिए उसे अपने पास कृषिजन्य पदार्थों और औद्योगिक पदार्थों का अच्छा-सा भण्डार रखना पड़ेगा।

खनिज द्रव्यों से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योगों पर राज्य का ही स्वामित्व होगा। तथापि उनका संचालन राज्य द्वारा तमाम उद्योगों के लिए निर्धारित विकास की सामान्य नीति के अनुसार उद्योगों में काम करनेवाले कामगार ही करेंगे। सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों का स्वामित्व—जब तक वे रहेंगे—राज्य का ही होगा।

प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन के साधन, कच्चा माल, पूँजी, शास्त्रीय ज्ञान की मदद और उत्पादन की बिक्री का प्रबन्ध, इन सबकी समुचित व्यवस्था करनी होगी। प्रत्येक कारीगर और सहकारी उद्योग-समिति को ये सब पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जायँ, इसलिए बहुत-सी बहुकाजी सहकारी समितियों की स्थापना करनी होगी। स्वतंत्र कारीगर जिन औजारों को काम में लायेंगे, उन्हें लोग अपने क्षेत्र में ही बना लिया करेंगे। किन्तु जहाँ यह संभव नहीं होगा, वहाँ बड़े कारखानों द्वारा इनका निर्माण किया जायगा और बहुकाजी सहयोग-समितियों की मार्फत ये कामगारों को सस्ती क़ीमत में उपलब्ध कर दिये जायँगे। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ कारीगर अपने काम के लिए

कच्चा माल अथवा पूँजी प्राप्त नहीं कर सकेंगे, वहाँ यही बहुकाजी सहकारी समितियाँ इनको कामगारों के लिए उपलब्ध कर देंगी।

: ५ :

यंत्र, शक्ति और औद्योगिक शोध

समाज में एक भारी गलतफहमी फैली हुई मालूम होती है कि सर्वोदय यंत्रमात्र और वैज्ञानिक प्रगति का विरोधी है और यह कि उत्पादन के पुराने तरीकों से ही चिपटा रहना चाहता है तथा समाज को दरिद्रावस्था में रखना चाहता है। यह चित्रण बिलकुल गलत और उल्टा है। सर्वोदय यन्त्रों और वैज्ञानिक प्रगति का विरोधी नहीं। वह मनुष्य की कार्यशक्ति बढ़ाने, उसे थकानेवाले एक-सा काम से बचाने और फुरसत के समय का उपयोग मनुष्य-जीवन को आनंदमय बनानेवाली उच्च नैतिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में कर सके, इस हेतु से सर्वोदय यन्त्र और विज्ञान, दोनों से काम लेना चाहता है। परन्तु वर्तमान औद्योगिक सभ्यता में जो असंख्य बुराइयाँ घुस गयी हैं, उनका वह अवश्य विरोधी है।

समाज में जब यन्त्र को स्थान मिला, उस युग की आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम आज की उद्योग-प्रधान सभ्यता है। पूँजीवाद ने उसको स्वीकार किया और परिपुष्ट किया, जिसका मुख्य स्वार्थ इस बात में था कि वह मजदूरी में बचत करके उत्पादन बढ़ाये, बड़े-बड़े बाजारों पर कब्जा करे और मनमाना मुनाफा कमाये। इसलिए उसने

मजदूर के हितों का कभी खयाल नहीं किया। अपनी वस्तु को जब कारीगर बनाने लगता है, तब उसे सुन्दर बनाने के लिए उसके अन्दर अपनी सारी कला उँड़ेल देता है। परन्तु कारखाने-दार——पूँजीवाद——ने इसका भी कभी खयाल नहीं किया। तब वह यह तो सोच ही कैसे सकता था कि समाज में हर मनुष्य को पूरा समय और पेटभर खाना देनेवाली रोजी मिलनी चाहिए। नतीजा यह हुआ कि कलें बेकारी बढ़ाने लगीं, कारीगरों के हाथों से सृजन का गौरव और आनन्द छीनने लगीं और अन्त में केन्द्रित उद्योग-प्रणाली में मनुष्य यन्त्र का एक जड़ पुर्जा मात्र बन गया। इस तरह वस्तुओं के पर्वताकार ढेर बनाने के साथ-साथ कारखानों ने ढेरों से ऐसे मनुष्य बनाना शुरू कर दिया, जिनका निवास शहरों की गन्दी बस्तियाँ हो गयीं और जो सारा पुरुषार्थ खो चुके। उसका काम बस इतना रह गया कि यन्त्र जैसी हलचलों की जिस वक्त माँग करें, चुपचाप यन्त्र की ही तरह मनुष्य वैसी हलचलें करता रहे। इससे उत्पादन के अन्दर से व्यक्तित्व की झलक समाप्त हो गयी और मनुष्य मानवता से शून्य बन गया।

यन्त्र-शास्त्र की प्रगति और विकास भी पूँजी और व्यापार के आश्रय में हुआ। इस कारण उसने मनुष्य और समाज की परवाह न कर केवल मुनाफा बढ़ानेवाले यन्त्रों के निर्माण पर ही ध्यान दिया। जब विज्ञान और यन्त्रशास्त्र पूँजी के गुलाम बन गये, तब और दूसरा परिणाम क्या हो सकता था? और इन दोनों का साथ इतने लम्बे अर्से से चला आ रहा है कि अब यह लोगों के अभ्यास की चीज बन गयी है, इसलिए इसमें उन्हें कोई

अन्याय नहीं दिखाई देता। यही नहीं, खुद यन्त्र-शास्त्र की प्रगति भी रुक गयी है। इस तरह पूँजीवाद के कारण यन्त्र-शास्त्र को हानि उठानी पड़ रही है, जब कि पूँजीवाद निर्लज्ज बनकर यन्त्र से पूरा लाभ उठा रहा है।

अब समाजवाद आ गया है। परन्तु पूँजीवादी उद्योग-प्रणाली की बुराई को वह भी पूरी तरह दूर नहीं कर पाया है। दुर्भाग्यवश यह लोग मानते हैं कि व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा समाप्त होते ही इस उद्योग-पद्धति की बुराइयाँ अपने-आप चली जायेंगी। परन्तु ध्यान रहे कि औद्योगिक क्षेत्र की वर्तमान बुराइयों की जड़ जिस प्रकार उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व हैं, उसी प्रकार उत्पादन की वर्तमान पद्धतियाँ भी हैं। इसलिए इन बुराइयों को अगर हम दूर करना चाहते हैं, तो हमें इन दोनों कारणों पर प्रहार करना पड़ेगा। अर्थात् आज जो मुट्ठीभर आदमियों के हाथों में उत्पादन के सारे साधन पड़े हुए हैं, इस प्रथा को नष्ट करना होगा और इसके साथ ही ऐसे यन्त्रों का उपयोग भी बन्द कर देना होगा, जिसमें गिनती के कुछ आदमियों के हाथों में यन्त्रों का चालन और स्वामित्व चला जाता हो, जिनसे आदमी बेकार बनते हों, जो मनुष्य के शरीर और बुद्धि को पंगु बनानेवाले हों और जो उसकी निर्माण-शक्ति को और मनुष्यत्व को नष्ट करनेवाले हों। इस प्रकार सर्वोदय यन्त्र की अपार शक्ति को भी काम में लेना चाहता है और साथ ही मनुष्य का आर्थिक तथा सांस्कृतिक कल्याण भी चाहता है। इससे स्पष्ट है कि वह यन्त्रों का विरोधी नहीं। वह उन तमाम यन्त्रों का और शक्तियों का स्वागत करेगा, जो सबका भला करने-

वाले होंगे। वह औद्योगिक क्रान्ति का विरोधी नहीं। असल में वह विरोधी है औद्योगिक क्रान्ति के उस स्वरूप और हेतुओं का, जिनको पूँजीवाद ने अठारहवीं शताब्दी में जारी किया था।

मतलब यह कि सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था के आधारस्वरूप सिद्धान्तों का जिसमें भंग न हो, इस प्रकार यन्त्रों का उपयोग किया जायगा। और इस बात की पूरी सावधानी रखी जायगी कि इनके दुरुपयोग की जरा भी गुंजाइश न रहे। नहीं तो वह समाज को पुनः इस दुरवस्था में पहुँचा सकता है। अत्यधिक उत्पादन और केन्द्रीकरण से बचते हुए समाज की जरूरतें पूरी करने के लिए जितना अधिक-से-अधिक उत्पादन किया जा सके और अधिक-से-अधिक लोगों को काम दिया जा सके, इन बातों को ध्यान में रखकर यन्त्रों की कार्यशक्ति पूरी बढ़ायी जायगी। हाँ, अधिक-से-अधिक किसे कहा जाय, इसकी परिभाषा भी समय-समय पर आर्थिक परिस्थितियाँ, आबादी की बढ़ती, उत्पादन के साधन और शास्त्रीय शोधों की प्रगति के अनुसार स्वभावतः बदलती रहेगी।

इन तमाम विचारों को ध्यान में रखते हुए उद्योगों की मदद के लिए जितना भी संभव होगा, सब प्रकार की शक्तियों का उपयोग किया जायगा। बिजली, अणु, सूर्य आदि नयी प्रकार की शक्तियों के जो शोध हुए हैं, उनसे अब केन्द्रीकरण की बुराइयों से बचते हुए शक्ति का उत्पादन, वितरण और उपयोग संभव हो गया है। जहाँ शक्ति का उत्पादन केन्द्रीकरण के बगैर संभव नहीं होगा, वहाँ उत्पादन के कारखाने पर स्वामित्व समाज का या प्रादेशिक परिषद् का होगा।

शक्ति के साधनों की खोज में और यन्त्रों का उपयोग करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जायगा कि हर स्थान के तमाम साधनों का पूरा-पूरा उपयोग हो जाय। स्वतंत्र कारीगरों और सहकारी उद्योग-समितियों की जरूरतों को पूरी करने के लिए स्थानीय शक्ति-साधनों का उपयोग सबसे पहले किया जायगा। जहाँ तक संभव होगा, शक्ति का उत्पादन भी विकेन्द्रित पद्धति से ही किया जायगा। और इसके साथ जिन-जिन उपायों से शक्ति उपलब्ध हो सकेगी, उनका भी उपयोग किया जायगा। तब खेती और उद्योगसम्बन्धी अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग प्रकार की शक्ति का उपयोग किया जा सकेगा। उदाहरण के लिए खेती और घानी में बैल, भैंसे और ऊँट काम में लिये जायेंगे। कुएँ से पानी निकालने के लिए पशुओं से भी काम लिया जा सकता है और यन्त्रों से भी, जैसी जहाँ जरूरत हो। माल के पहुँचाने-लाने में पशुओं और भाफ तथा बिजली का भी उपयोग हो सकता है।

उत्पादन बढ़ाने, बेकारी मिटाने और मानव-जीवन के उच्च ध्येयों की सिद्धियाँ प्राप्त करने में सबको सहूलियत हो, इस हेतु से उद्योग के सभी क्षेत्रों में विज्ञान और यन्त्रों के शोध को प्रोत्साहन दिया जायगा। प्रत्येक उद्योग के साथ उससे सम्बन्ध रखनेवाला एक शोध का विभाग भी होगा। इस शोध-विभाग से जो-जो भी उद्योग लाभ उठायेंगे, वे ही इसका संचालन-व्यय भी उठायेंगे। एक केन्द्रीय शोध-परिषद् होगी, जो इन सबके शोधों का समन्वय करती रहेगी। इन शोध-संस्थानों का एक उद्देश्य यह होगा कि स्वतंत्र रूप से काम करनेवाले कारीगरों के क्षेत्र

का विस्तार किस प्रकार हो सकता है, इसकी संभावनाओं की खोज करें और ऐसे यन्त्र भी ढूँढ़ निकाले कि जिनकी मदद से उन उद्योगों को भी विकेन्द्रित किया जा सके, जिनका विकेन्द्रीकरण आज असंभव माना जाता है। इससे आज का क्रम बिल्कुल उलट जायगा। तब शोध-परिषद् का यह यत्न होगा कि स्वतंत्र कारीगर और सहकारी उद्योग-समितियों के क्षेत्र की तरफ पूरा-पूरा आवश्यक ध्यान दें। ◇◇◇

: ६ :

बैंक, सिक्का और बीमा

आज बड़े-बड़े उद्योगों को चलानेवाली शक्तियाँ सिक्का और बैंक हैं। बैंक पूंजी उपलब्ध कर देते हैं और स्टेट बैंक तथा सेन्ट्रल बैंक चालू सिक्के तथा व्याज के नियन्त्रण द्वारा चलन की नीति का निर्धारण करते हैं। इससे उपभोग और बचत के बीच सामंजस्य कायम होता है और अर्थ-व्यवस्था के हेतुओं को सिद्ध करने के लिए बचत को मार्ग मिल जाता है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि आज शासन और बैंक मुद्रा सम्बन्धी जिस नीति पर चल रहे हैं और जो कार्यक्रम अपनाते जा रहे हैं, उससे बड़े-बड़े उद्योगों का ही हित हो रहा है। शुरू-शुरू में वस्तु-विनिमय की पद्धति में जो दोष दिखाई पड़े, उनको दूर करने के लिए ही मुद्रा प्रचलित की गयी, इसके साथ ही यह भी खयाल था कि इससे हिसाब-किताब करने और वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण करने में सुविधा होगी। किन्तु आगे चलकर

इसने ऐसा महत्त्व प्राप्त किया कि लोग इसका ही संग्रह करने और अधिक-से-अधिक इसे अपने पास रखने के लिए प्रवृत्त होने लगे। आज तो यह ऐसा साधन हो गया है कि इसकी सहायता से सारे काम अपने-आप बन जाते हैं। इसीके आधार पर आज लोगों की सामाजिक स्थिति का निर्णय होता है। कहाँ तो इसे आर्थिक मूल्य-मापन का साधन माना गया था और कहाँ आज यह मनुष्य के सामाजिक और नैतिक मूल्यांकन का साधन बन गया। इसके आकर्षण का कौशल और प्रयत्न-पूर्वक उपयोग करने से सचाई, ईमानदारी और दानशीलता के स्थापित मूल्यों पर आघात पहुँचता है और इससे मनुष्य को इस प्रकार प्रवृत्त किया जाता है कि वह आचार-शास्त्र को ताक पर रखकर अपनी व्यवस्था का मूल्यांकन करे, क्योंकि उन्होंने सब बातों का आधार अर्थलिप्सा को मान लिया है। इसका महत्त्व इसीसे नहीं आँका जाता है कि इससे हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, वरन् इससे भी आँका जाता है कि यह समाज में प्रतिष्ठाप्रद स्थान सुलभ कराता है। इससे जनमत पर प्रभाव डाला जा सकता है, अधिकारियों को अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, आलोचकों का मुँह बन्द किया जा सकता है और मनुष्य की नैतिकता एवं परिवार और राज्य के प्रति जो सहज निष्ठा होती है, उसे समाप्त भी कर देता है। व्यापक जनसम्पर्क के साधन जैसे, समाचारपत्र, रेडियो, विद्यालय आदि का नियंत्रण वही करते हैं, जिनके पास पैसा होता है और इन नियंत्रित साधनों से वे अपने ही मत एवं हितों का प्रचार करते हैं।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि मुद्रा और बैंकिंग ऐसी चीजें हैं, जिनसे विकेन्द्रित और समानता के आधार पर स्थापित अर्थ-व्यवस्था के उन्नयन में कोई सहायता नहीं मिल सकती। ये दोनों चीजें तो तब तक रहेंगी, जब तक कि उत्पादन का उपयोग विनिमय अथवा बिक्री के लिए किया जायगा। साथ ही समय और दूरी जब तक आर्थिक व्यवस्था के सम्पादन में विचारणीय तत्त्व रहेंगे, तब तक भी उनका उपयोग होता ही रहेगा। फिर भी इसकी विषसंचरण-शक्ति को कुण्ठित करके हमें ऐसा प्रबन्ध करना होगा कि समाज के आर्थिक, पारस्परिक और राजनीतिक जीवन को यह कलुषित न कर पायें।

सर्वोदय जिस आदर्श अर्थ-व्यवस्था को लाना चाहता है, उसमें बिक्री और विनिमय के लिए उत्पादन नहीं होगा। उस अर्थ-व्यवस्था में हर मनुष्य उत्पादनकर्ता होगा। और वह समाज के सर्वसामान्य भण्डार अथवा कोष में अपनी तरफ से अधिक-से-अधिक पूर्ति हो, इस हेतु से काम करेगा। हर मनुष्य अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार पूरा काम करेगा, और यह देखना सबका कर्तव्य होगा कि हर मनुष्य की जरूरतों की पूर्ति हो जाय। जैसा कि पहले बताया गया है, बड़े समाज में व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ आर्थिक सम्बन्धों में बाँधनेवाले बन्धन वही होंगे, जो एक परिवार में होते हैं। हर आदमी समझेगा कि वह अपनी और समाज की जरूरतों को पूरी करने के लिए दूसरों के साथ काम कर रहा है। जिस समाज के अन्दर उत्पादन के प्रेरक हेतुओं में मौलिक परिवर्तन हो जायगा, उसमें

स्वभावतः सिक्के और बैंकों के प्रयोजन में भी जरूर ऐसा ही परिवर्तन हो जायगा। व्याज कमाने के लिए तब कोई बचत नहीं करेगा या पैसा किसी काम में नहीं लगायेगा। तब तो समाज की सेवा और उसकी जरूरतों की पूर्ति करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है, इस नैतिक भावना से प्रत्येक मनुष्य उत्पादन और बचत करेगा और इसी उद्देश्य से पूँजी को काम में लगायेगा।

परन्तु जब तक यह कर्तव्य-भावना इतनी बलवान् नहीं हो जाती कि दूसरी प्रेरणाओं को अनावश्यक कर दे, तब तक बिक्री और विनिमय के लिए उत्पादन होता रहेगा और ये संस्थाएँ समाज में रहेंगी ही। परन्तु उनके स्वरूप और काम में अवश्य उत्तरोत्तर अंतर होता जायगा। एक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के लिए उनका उपभोग होने लगेगा और मुट्ठीभर शोषक-वर्ग के स्वार्थ-साधन के बदले सारे समाज के हित के लिए उनसे काम लिया जायगा।

इसलिए बैंक ग्रामीण जनता की सेवा करेंगे। स्वतंत्र कारीगर और सहकारी उद्योग-समितियों के लिए पूँजी मुहैया करना उनका काम होगा।

खानगी व्यापारी बैंकों के लिए उस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं होगा। मुनाफा कमाने के लिए भी बैंकों का उपयोग नहीं होगा। केवल दो प्रकार के बैंक होंगे। एक स्टेट बैंक और दूसरा सहकारी बैंक। सहकारी बैंक ग्रामीणों से उनकी बचत का धन लेकर उसका उपयोग अपने गाँव में ही स्वतंत्र कारीगर, सहकारी उद्योग-समिति, सहकारी खेती, सामूहिक खेती और व्यक्तिगत खेती करनेवालों की जरूरतों की पूर्ति में करेगा।

अगर इन सबकी माँगों की पूर्ति करने लायक कोष सहकारी बैंक के पास नहीं होगा, तो इसकी पूर्ति स्टेट बैंक करेगा। सहकारी बैंक नकद अथवा माल के रूप में अमानतें लेंगे। स्टेट बैंक सेन्ट्रल बैंक का काम करेगा और देश की संपूर्ण बैंक-प्रणाली के काम में समन्वय लाने तथा देश की जरूरतों के लायक उनसे काम लेने की जिम्मेवारी उसकी होगी। इसलिए देश के सहकारी बैंकों तथा स्टेट बैंक के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने की कोई समुचित विधि ढूँढ़ निकालनी होगी, जिससे ये सब मिलकर ठीक तरह से काम कर सकें।

प्रकट है कि जिस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन केवल समाज की जरूरतों के अनुसार और विकेन्द्रित कर दिया जायगा, वहाँ विनिमय के साधन के रूप में सिक्के का महत्त्व बहुत कम हो जायगा। जिन व्यक्तियों और व्यापार-संस्थानों के पास कुछ बचत रहेगी, वे इसे ऐसे ही दूसरे व्यक्तियों और संस्थानों को देकर उसके बदले में उनसे अपनी जरूरत की चीजें ले लेंगे अथवा बहुकाजी सहकारी समितियों के हाथ इसे बेचकर उनसे ये चीजें खरीद लेंगे अथवा उनसे दूसरी आवश्यक सेवा ले लेंगे।

गाँवों के बीच के व्यवहार में सिक्के की जरूरत इस तरह भी घटायी जा सकती है कि वे अपने सहकारी बैंक अथवा बहुकाजी सहकारी समिति के एक अंग के रूप में एक श्रम बैंक भी खोल दें। इस श्रम बैंक में कारीगरों के अथवा साधारण आदमियों के श्रम के घण्टे जमा रहेंगे। इसी प्रकार वह ऐसे पेशेवार या दस्तकारी-वार तथा साधारण श्रम के कितने घण्टों की गाँव को जरूरत है, इसकी भी नोंद अपने दफ्तर में रखेगा। श्रम बैंक अपने कार्यालय

में इस बात का भी लेखा रखेगा कि प्रत्येक आदमी ने समाज के लिए कितने घण्टे प्रत्यक्ष श्रम किया है। फिर बहुकाजी सहकारी समिति या श्रम बैंक अपने पास एक ऐसा तख्ता भी रखेगा कि किस प्रकार के श्रम के बदले में कौन-कौन चीज कितनी मात्रा में दी जा सकती है या किस प्रकार की अन्य सेवा कितनी दी जा सकती है। इस तख्ते के अनुसार अपने श्रम के बदले में व्यक्तियों को निश्चित मात्रा में वस्तुएँ अथवा सेवाएँ मिल सकेंगी। अगर उत्पादन की पद्धति में फर्क हो जायगा और उसके फल-स्वरूप उत्पादन की मात्रा भी बढ़ जायगी, तब स्वभावतः श्रम के और वस्तुओं के मूल्य में भी फर्क हो सकता है। गाँव-सभा यह आज्ञा जारी कर सकती है कि गाँव में पैदा होनेवाली कुछ चीजें ऐसी होंगी, जिनके लेन-देन के व्यवहार श्रम बैंक की मार्फत ही होंगे।

गाँव में अथवा ऊपर के हल्कों में भी शासकीय कर्मचारियों को उनके वेतन का एक हिस्सा प्रत्यक्ष वस्तुओं के रूप में मिलेगा। ये चीजें तत्काल दे दी जायँगी या इनके कूपन्स कर्मचारियों को दे दिये जायँगे। वेतन का शेष हिस्सा राष्ट्रीय सिक्कों के रूप में दिया जा सकता है। क्योंकि गाँव-गाँव अथवा प्रदेश-प्रदेश के बीच के व्यवहार राष्ट्रीय सिक्कों के द्वारा ही होंगे। इसके अलावा जहाँ विनिमय का दूसरा कोई साधन तुरन्त उपलब्ध न हो सकेगा, वहाँ हिसाब-किताब सिक्कों के रूप में ही रखा जायगा और वही विनिमय का साधन भी रहेगा। परन्तु इस पद्धति में सिक्के का महत्त्व इतना घट जायगा कि व्यक्ति और समाज को नुकसान पहुँचने की संभावना बहुत कम रह जायगी।

सिक्के के मूल्य में घटी या बढ़ती बहुत कम होगी। और उसे रोकने के सारे प्रयत्न निष्फल हो जाने पर अगर कमी होगी भी, तो उसका असर जैसा कि वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में होता है—इतना भारी नहीं होगा। और एक साधारण आदमी के प्रतिदिन के व्यवहार पर आज उसका जितना असर हो रहा है, उतना नहीं होगा।

आज की जटिल उद्योग-प्रणाली में पूँजी जुटाने में व्याज की दर बड़ा काम करती है। भिन्न-भिन्न उद्योगों में कितनी पूँजी लगायी या न लगायी जाय, इस हेतु से व्याज की दर घटायी-बढ़ायी जाती है।

सर्वोदय की अर्थ-व्यवस्था में स्वतंत्र कारीगर उद्योग-प्रणाली का एक बहुत बड़ा अंग होगा। और चूँकि इस क्षेत्र के उत्पादन के लिए इतनी भारी पूँजी की जरूरत नहीं होगी कि जिसे वह खुद या सहकारी उद्योग-समिति या सहकारी बैंक की मदद से भी प्राप्त न कर सके। अतः पूँजी की माँग और पूँजी लगानेवालों को राजी करने के बीच मेल बैठाने के लिए व्याज की दरों को कम-ज्यादह करने की जरूरत नहीं पड़ती। इसके अलावा बड़े कारखानों में कितनी पूँजी लगायी जाय, यह व्याज की दरों के आधार पर निश्चय नहीं किया जायगा। क्योंकि किस उद्योग में या जन-सेवा क काम में कितना धन लगाया जाय, यह कइ अन्य बातों पर—उदाहरणार्थ, हर मनुष्य को पूरा काम देना, जनता की अधिक-से-अधिक भलाई के लिए प्राकृतिक साधनों का विकास करना, और ऊपर बतायी उद्योग-प्रणाली द्वारा उत्पादन को अधिकतम बढ़ाना इत्यादि नीतिसम्बन्धी बातों पर—निर्भर

होगा। यह भी ध्यान रहे कि इस योजना में बतायी प्रणाली में बड़े कारखाने व्यक्तिगत सम्पत्ति रहेंगे ही नहीं, जिससे उन्हें चलाने के लिए उन्हें ब्याज देकर पूँजी जुटाने की चिन्ता करनी पड़े। इसलिए किस उद्योग में कितनी पूँजी लगायी जाय, इसका विचार उससे कितना मुनाफा मिल सकता है अथवा पूँजी पर कितना ब्याज देना होगा, इस पर निर्भर नहीं होगा।

सर्वोदय की आदर्श अर्थ-व्यवस्था में बेकार पड़ी हुई पूँजी को किसी काम में लगाने के लिए ब्याज का लालच नहीं देना होगा। आज तो ब्याज न केवल सुस्त धनवानों के लिए आय कमाने का साधन है, बल्कि बचत करके उसे उद्योगों में लगाने के लिए प्रलोभन देनेवाली वस्तु भी है। और यह तो हर विकास-शील अर्थ-व्यवस्था में होगा, जो चाहती है कि उसकी यन्त्र-सामग्री उत्तम रहे और वह अधिक-से-अधिक उत्पादन देती रहे। उसे लोगों को बचत करने और उसे खेती तथा उद्योगों के विकास में लगाने का प्रलोभन देना ही होगा। परन्तु सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में हर आदमी खुद यह समझेगा कि उत्पादन की प्रक्रियाओं का सुधार और संगठन सब इसलिए है कि मनुष्य बचत करके उसे समाज की सेवा में अर्पण कर दे। वहाँ इसके लिए ब्याज के प्रलोभन की जरूरत नहीं होगी। हाँ, इस स्थिति को पहुँचने में देर लग सकती है, जब कि हर आदमी इतना समझदार बन जायगा। इसलिए जब तक इस स्थिति को समाज नहीं पहुँच जाता, तब तक संक्रमण-काल की अर्थ-व्यवस्था में ब्याज के लिए भी स्थान रहेगा। परन्तु उसका महत्त्व और कार्य उत्तरोत्तर घटते जायेंगे। उद्देश्य यही होगा कि क्रमशः ऐसा ही हो और

उसका स्थान समाज के लिए कोई अधिक लाभदायक प्रेरक हेतु ले ले।

बैंकों के यन्त्र को चलाने के लिए भी व्याज की जरूरत नहीं रहेगी, क्योंकि खानगी व्यापारी बैंक तो सब बन्द हो जायेंगे और सहकारी बैंक तथा स्टेट बैंक का काम-काज समाज खुद अपना आवश्यक सेवा-कार्य समझकर चला लेगा। हाँ, जहाँ सार्वजनिक सेवा के कार्यों पर धन लगाया जायगा, उनसे समाज को कितना लाभ हो रहा है, यह हिसाब लगाने के लिए भले ही व्याज का उपयोग एक नाप के रूप में हो सकता है। संक्रमण-काल में बचत द्वारा पूँजी इकट्ठी करके उसे उद्योगों में लगाने का प्रलोभन देने के लिए भी व्याज रह सकता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि व्याज की जगह दूसरे प्रलोभन उत्तरोत्तर ले लें, ऐसा यत्न किया जायगा, विशेषकर बचत करने और उद्योगों में लगाने के लिए। व्याज को नीचे लिखे तीन कदमों में समाप्त किया जा सकता है :

(१) आज तो हर प्रकार के कर्ज पर व्याज लिया जाता है। पहला कदम यह हो सकता है, अनुत्पादक निजी कर्ज पर व्याज न लिया जाय। उत्पादक काम के लिए, लिये गये कर्ज पर राज्य, ग्राम-सभा या व्यक्ति नाममात्र का व्याज दें, जब वह किसी बैंक से या किसीकी व्यक्तिगत बचत में से लिया जाय। इस व्याज की दर कोई शासकीय अधिकारी मुकर्रर करेगा और वह दर ऐसी नहीं होगी कि लोग उसे कमाई का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना लें। इसके अलावा उत्पादन के तरीकों में इतना परिवर्तन हो जायगा और प्रत्येक आदमी के पास उत्पादन के

साधन उसके अपने होंगे, तो तमाम लोगों की आय लगभग समान हो जांयगी और तब कोई आदमी इतनी कमाई नहीं कर सकेगा कि वह बचत करके व्याज पर रुपये दे सके और उसे अपनी आमदनी का एक बड़ा साधन बना सके।

(२) कर्जों पर व्याज नहीं लिया जायगा। परन्तु कर्जदार से यह जमानत जरूर ली जायगी कि वह ली हुई रकम लौटा देगा।

(३) जब समाज को जरूरत होगी, तब उसे बचत चन्दे या दान के रूप में दे दी जायगी। अर्थात् न रकम ही दी जायगी, न उस पर कोई व्याज दिया जायगा और न लौटायी ही जायगी।

यह जरूरी नहीं कि ये तीन कदम एक के बाद एक लिये जायँ। वे एक साथ लिये जा सकते हैं और समाज इन तीनों के लिए एक साथ चन्दा माँग सकता है। ज्यों-ज्यों अधिकाधिक लोग सर्वोदय के आधारभूत सिद्धान्तों को समझने लगेंगे और समाज सर्वोदय के आदर्श की तरफ सच्ची प्रगति करता जायगा, पहले प्रकार के व्यवहार कम होते जायँगे और उनके स्थान पर दूसरे और तीसरे प्रकार के व्यवहार बढ़ते जायँगे।

बीमा

पहले कहा जा चुका है कि सर्वोदय-समाज में प्रतिस्पर्धा का स्थान सहयोग ले लेगा। और हर मनुष्य यह समझेगा कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति की जरूरतें पूरी करने की जिम्मेवारी समाज और व्यक्ति, दोनों की है। खुद योजना का उद्देश्य बेकारी को पूरी तरह मिटा देना है और यह भी कि प्रत्येक मनुष्य की आय इतनी हो कि वह मनुष्य के लिए कम-से-कम

आवश्यक सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर सके। उसे भौतिक जरूरतों का अभाव खटकने न पाये। तब बेकारी लगभग पूरी तरह से नष्ट हो जायगी। अगर रही, तो केवल उतने ही समय तक, जब कि एक काम को छोड़कर मनुष्य दूसरे काम को हाथ में लेता है। यह समय भी कम-से-कम होगा, क्योंकि उस अवस्था में मनुष्य निरा मजदूर नहीं रह जायगा, जिसे अपनी रोजी के लिए दूसरे का मुँह ताकना होता है। वह खुद अपना मालिक होगा और काम करने के औजार भी उसके अपने होंगे। चूँकि इस योजना में मुख्यतः मनुष्य खुद ही स्वतंत्र रूप से काम करेगा, वह अपने काम के औजार बहुकाजी सहकारी समिति से उधारी पर ले लेगा और उनकी कीमत छोटी-छोटी किस्तों में आसानी से चुका देगा।

इस नयी व्यवस्था में बीमारी, बेकारी या बुढ़ापे के समय भी किसीको चिन्ता नहीं करनी होगी, क्योंकि बेकारी तो प्रायः होगी ही नहीं और घर में सबके पास काम होगा तथा सारे सामाजिक सम्बन्ध इतने निकट के और प्रेमभरे होंगे कि बीमारी, दुर्घटना और बुढ़ापे में भी आर्थिक कष्ट नहीं होगा। इतने पर भी, खासकर संक्रमण-काल में, अगर जरूरत समझी गयी, तो गाँव-सभा बहुकाजी सहकारी समिति की मार्फत या प्रादेशिक अधिकारियों के सहयोग से किसीको बेकारी, बुढ़ापे, बीमारी, दुर्घटना और कहत के कष्ट न हों, इस हेतु से बीमे की कुछ योजनाएँ बना लेंगी।

◆◆◆

: ७ :

व्यापार

प्रकट है कि जिस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन की पद्धति विकेन्द्रित है और स्थानीय जनता के अन्दर वस्तुओं का न्यायपूर्ण वितरण हो, इस दृष्टि से जहाँ वितरण संगठित कर दिया गया हो, वहाँ आज के जैसे व्यापार के लम्बे-चौड़े फैलाव की जरूरत नहीं होगी। इसके लिए बहुत कम काम रह जायगा। जब उत्पादन समाज के सम्मिलित भण्डार के लिए होगा और बेचने या विनिमय के लिए नहीं होगा, तब व्यापार का सवाल ही न खड़ा होगा। जो कुछ पैदावार होगी, स्थानीय जरूरतों के अनुसार बाँट ली जायगी। और जो कुछ बचेगा, उसे जहाँ इन चीजों की कमी होगी, वहाँ इनकी पूर्ति के लिए भेज दी जायगी। वहाँ से उसके बदले में कुछ मिलना ही चाहिए, इसका कोई खयाल तक नहीं करेगा।

परन्तु मान लें कि इस स्थिति को समाज न भी पहुँचा, तो भी एक बार अर्थ-व्यवस्था विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर कायम हो गयी, तो भी व्यापार का विस्तार अपने-आप कम हो जायगा। स्वतंत्र कारीगर और किसान अगर अपनी और परिवार की जरूरतों से ज्यादा उत्पादन करेंगे या जो विनिमय के लिए भी उत्पादन करेंगे, तो वे भी दूसरी चीजों के साथ अपनी पैदावार की अदल-बदल कर लेंगे अथवा अपनी स्थानीय बहुकाजी सहकारी समिति को उसे बेच देंगे। ये बहुकाजी सहकारी समितियाँ इस पैदावार को खरीदकर उसे किस्मवार छाँट लेंगी और

अपने भण्डार में रखकर उचित समय आने पर बेच दिया करेंगी। इसी प्रकार वे अपने क्षेत्र की सहकारी समितियों का माल भी खरीद लिया करेंगी। आपस में व्यवहार करनेवाले व्यक्ति बदले में सिक्का या दूसरी चीजें दे दिया करेंगे। अगर किसी क्षेत्र में कोई चीज इतनी अधिक होगी कि उसे बाहर भेजना जरूरी हो जाय, तो बहुकाजी सहकारी समिति इसका प्रवन्ध आन्तरक्षेत्रीय अथवा आन्तरप्रादेशिक व्यापारी-संस्थान की मदद से कर लेंगी। सारा व्यापार सहकारी समितियों के हाथ में रहेगा। परन्तु उनके हाथ में क्षेत्रों के भीतर का और आपस का व्यापार जाने से पहले अगर शुरू-शुरू में खानगी व्यक्तियों को व्यापार की इजाजत दे दी गयी, तो गाँव-सभाएँ उन पर कर वगैरह लगाकर उनका नियन्त्रण करेंगी, जिससे शोषण की कहीं गुंजाइश न रहे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, व्यापार इस तरह नहीं किया जायगा कि जिससे स्वावलम्बन को हानि पहुँचे या परस्परावलम्बन का परिणाम परावलम्बन हो जाय। बल्कि बचत की चीजों की अदला-बदली से तो भिन्न-भिन्न स्थानों के प्राकृतिक साधनों का अधिक अच्छा और लाभदायक उपयोग होगा।

आंतरराष्ट्रीय व्यापार भी मुख्यतः बचत की चीजों का ही होगा। राष्ट्र के पास जो चीज अधिक पैदा होगी या जिसे वह अधिक कुशलता के साथ बनायेगा, वही वह दूसरे राष्ट्र को देगा और उसके बदले में ऐसी चीजें लेगा, जिनकी उसे जरूरत होगी और खुद पैदा नहीं कर सकता होगा। दूसरे देशों के साथ का

यह सारा व्यापार एक व्यापारी-संस्थान के हाथों में रहेगा। आंतरराष्ट्रीय व्यापार में भी इस बात का पूरा ध्यान रखा जायगा कि वह आवश्यक वस्तुओं के बारे में परावलम्बी न बने अथवा किसीका शोषण न हो अर्थात् अपने देश में अगर कोई चीज हम सस्ते में बना सकेंगे, तो वह दूसरे देश पर जबर्दस्ती नहीं लादेंगे, क्योंकि इससे उस देश की अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा हो जायगी। हम अपने देश से कोई चीज तभी बाहर भेजेंगे, जब उस चीज की माँग दूसरा देश खुद स्वेच्छा से हमसे करेगा और फिर चीज उसी देश को भेजेंगे, जहाँ से माँग आयेगी। ◆◆◆

: ८ :

यातायात

हमारे देश में जो रेलें आयीं और मोटरें चलाने लायक सड़कें बनीं, इससे लोग यह समझने लगे हैं कि मनुष्यों के आवागमन और चीजों के लाने-ले जाने के साधन तेजी से बढ़ रहे हैं। परन्तु इन वर्तमान रेलवे लाइनों और बड़ी-बड़ी सड़कों में से बहुतेरी पराधीनता के जमाने में फौजों को राष्ट्रीयता के केन्द्रों पर जल्दी-से-जल्दी पहुँचाने के लिए बनायी गयी थीं, ताकि कहीं बगावत हो, तो उसे तुरन्त दबाया जा सके, अथवा दूर-दूर की फौजी छावनियों को एक-दूसरे के साथ जोड़ा जा सके या कच्चे माल को निकासी के लिए बन्दरगाहों पर पहुँचाया जा सके। या तो कानून और व्यवस्थासम्बन्धी जरूरतें पूरी करने

के लिए अथवा शहरों के अन्दर बने कारखानों के लिए, गाँवों से कच्चा माल ढोने के लिए ये सड़कें और रेलवे लाइनें बनायी गयी थीं। फिर औद्योगिक केन्द्रों पर कच्चा माल भेजने और तैयार माल को गाँवों तक पहुँचाने के लिए रिआयती दरें रखी गयीं। इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न जलवायुवाले तथा अनेक प्रकार के विषम भूखण्डवाले भारत जैसे विशाल देश में बस्ती के प्रत्येक क्षेत्र को पक्की सड़कों से सम्बद्ध कर देना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। यदि यह कार्य कोई करना भी चाहे, तो इतनी सड़कें बनानी पड़ेंगी कि उसके लिए अत्यधिक रुपये और श्रमिक-साहाय्य की अपेक्षा होगी। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि औद्योगिक बस्तियों और नगरों की तुलना में गाँवों की बराबर उपेक्षा हुई है। ऐसे कई हिस्से देश में हैं, जहाँ एक गाँव से दूसरे गाँव जाने के लिए केवल पगडंडियाँ हैं, जो निर्जन वन-प्रदेशों में से जाती हैं। कहीं-कहीं बहुत हुआ, तो बैलगाड़ियों के रास्ते भी इन पगडण्डियों के समानान्तर होते हैं। और भारी बरसात में तो ये पगडण्डियाँ भी काम नहीं देतीं। तब तो इन गाँवों का आपसी और संसार से भी सम्बन्ध एकदम कट जाता है। फिर भी इनको ये असुविधाएँ सालभर सहनी ही पड़ती हैं। देश के छोटे-छोटे उद्योगों को या तो जान-बूझकर नष्ट कर दिया गया है या बड़े उद्योगों के साथ अत्यधिक रिआयत और इनकी उपेक्षा करके मरने दिया गया है। कच्चा माल गाँवों में रहने नहीं दिया जाता। बड़े कारखानों में बनी सस्ती चीजों से बाजार पट जाते हैं और स्थानीय ग्रामोद्योगों की चीजों की माँग खतम कर दी जाती है।

जब ग्रामोद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल और उनमें बनी चीजों के बाजार भी इस तरह छिन जाते हैं, तब कारीगर बेकार हो जाते हैं। बगैर काम के अपनी कुशलता बच्चों को विरासत में देने के लिए कारीगर के पास कोई साधन नहीं रहता और उद्योग या तो मर जाते हैं या निकम्मे बन जाते हैं। गाँव के उद्योगों के विनाश की इस प्रक्रिया ने गाँवों को निर्धन बना दिया है तथा वहाँ के निवासियों का जीवन अत्यन्त हीन कोटि का कर दिया है। सालभर उपयोग में आनेवाली सड़कों के अभाव ने गाँवों का बाहरी सम्पर्क समाप्त कर दिया है और उनके निवासियों को रोग, अज्ञान और निर्धनता का शिकार बनने के लिए मजबूर कर दिया है। यह सब तब तक नहीं बदलेगा और गाँवों की हालत भी नहीं सुधरेगी, जब तक यातायात और आवागमन के साधनों का संचालन जिस नीति के आधार पर अब तक चलता रहा, उसके हेतु को जड़ से नहीं बदल दिया जायगा। अब ऐसी नीति बनानी होगी कि गाँवों के बीच पूरे वर्षभर आवागमन जारी रह सके और उनका सम्बन्ध शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों से हो जाय। अतः सबसे पहले यह काम हाथ में लिया जायगा कि गाँवों तक जाने के और गाँवों-गाँवों के बीच के आवागमन तथा यातायात के सम्बन्ध कायम हो जायँ। गाँवों के रास्ते सुधारे जायँ, नयी सड़कें बनायी जायँ और गाँवों को आपस में जोड़नेवाली तथा उनका सम्बन्ध क्षेत्र के शहरों से कायम करनेवाली रेलवे लाइनें बनायी जायँ। इसी हेतु को पूरा करने के लिए भीतरी जलमार्गों का भी विकास किया जायगा। और संक्रमण-काल में रेलवे,

मोटरों और समुद्र-किनारे के जहाजों के माल के लेने-ले जाने की दरों में इस प्रकार के सुधार कर दिये जायँगे कि जिससे ग्रामोद्योगों को बढ़ने और विकास करने का मौका मिले ।

जैसे-जैसे क्षेत्र अपनी जरूरतों के बारे में स्वावलम्बी होते जायँगे और विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का विस्तार होता जायगा, वैसे-वैसे दूर के प्रवास और यातायात का बोझा अपने-आप कम होता जायगा। गाँवों को और प्रदेशों को दूर-दूर से चीजें मँगाने की या भेजने की जरूरत ही नहीं रहेगी। बचत की चीजों की अदला-बदली करने का प्रबन्ध सहकारी समितियाँ कर लेंगी। और इनकी प्रादेशिक परिषदें माल के विनिमय का प्रवन्ध प्रदेशों के भीतर ही भीतर इस तरह कर लेंगी कि दूर-दूर से चीजें मँगाने या भेजने की जरूरत बहुत कम रह जायगी। उत्पादन अपने क्षेत्र की जरूरतें पूरी करने भर के लिए मुख्यतया होगा। अतः दूर-दूर के उत्पादन और उपभोग के क्षेत्रों को जोड़ने का बहुत-सा बोझ अपने-आप कम हो जायगा। रेलवे या हवाई जहाज जैसे दूर ले जाने-लानेवाले साधनों का उपयोग बहुत सीमित हो जायगा। उदाहरणार्थ, वे या तो फलों जैसी जल्दी खराब होनेवाली चीजों के पहुँचाने के काम में आयेंगे या शिक्षा-सम्बन्धी, सांस्कृतिक या राजनैतिक प्रवासों के काम में आयेंगे। जो चीजें जल्दी खराब नहीं होतीं, उनको साधारण दूरी के फासलों पर पहुँचाने का काम पशुओं, देहाती गाड़ियों, साइकिलों, मोटर लारियों आदि से लिया जायगा। हाँ, अगर कोई चीज बहुत जल्दी कहीं पहुँचानी होगी, तो इससे तेज साधनों का

उपयोग भी कर लिया जायगा। आदमियों से चलाया जानेवाला रिक्शे का उपयोग बन्द कर दिया जायगा।

यातायात और आवागमन के साधनों का विकास करने के लिए नियुक्त प्रादेशिक और राष्ट्र के अधिकारी यह ध्यान रखेंगे कि यातायात के समस्त साधन काम में ले लिये जायँ। वे एक ऐसी सुसंबद्ध योजना बनायेंगे कि जिसमें कहीं प्रतिस्पर्धा या साधनों का अपव्यय न हो पाये और हर क्षेत्र की जरूरत की पूर्ति हो जाय। यातायात और आवागमन के काम में देश को स्वावलम्बी बनाने के लिए योजना का यह यत्न भी होगा कि इनके साधन—अर्थात् हवाई जहाज, इंजिन, रेलवे वैगन, ट्रक, रेल की पटरियाँ, मोटरें, जहाज, नावें इत्यादि सब देश में ही बनें। शक्ति के साधनों का भी सर्वेक्षण करके यह प्रबन्ध कर दिया जायगा कि पशु, पेट्रोल, बिजली वगैरा सबका पूरा-पूरा उपयोग हो जाय और यथासम्भव हर क्षेत्र स्वावलम्बी भी रहे। आज हमारी बहुत-सी मोटरों, लारियों, मोटर साइकिलों को बाहर से आनेवाले इंधन पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए परिवहन-विभाग से सम्बन्धित शोध-विभाग देश में ही पेट्रोल की खोज करने का प्रयत्न तो करेगा ही, परन्तु वह साथ ही ऐसी मोटरें बनाने का यत्न भी करेगा, जो स्थानीय उपलब्ध इंधन से ही अथवा जापान की भाँति बैटरियों से चल सकें।

देश के जलमार्गों का भी पूरा-पूरा उपयोग कर लिया जायगा। और समुद्र किनारे के जहाजरानी की भी ऐसी योजना बना ली जायगी कि उसमें देशी नावें और मोटर लाँचें भी

स्थान पा सकें। इस बात को ध्यान में रखकर छोटे-बड़े बन्दरगाहों का विकास किया जायगा। प्रादेशिक योजना-अधिकारी की यह जिम्मेवारी होगी कि वह बन्दरगाहों और परिवहन के साधनों का विकास ग्रामों के हितों में करें।

परिवहन और संचार के साधनों में हवाई जहाजों का भी स्थान अवश्य होगा। वे मुसाफिरों, डाक, जल्दी खराब होनेवाली चीजों, औषधियों वगैरा अत्यावश्यक चीजों के परिवहन के काम में आयेंगे।

डाक, तार और टेलीफोन की सुविधाएँ गाँवों को भी जरूर मिलनी चाहिए। हवाई जहाज, रेलवे, समुद्र के किनारे से चलनेवाले जहाज, डाक, तार, टेलीफोन वगैरा पर राज्य का अथवा सार्वजनिक संस्थानों का स्वामित्व होगा। बैल, घोड़े, ऊँट, गाड़ियाँ, लॉरियाँ इत्यादि जिनको व्यक्ति खरीदकर चला सकते हैं, वे व्यक्तियों के स्वामित्व में ही रहेंगी। परन्तु इन पर नियन्त्रण गाँव-सभा या ऐसे ही किसी अधिकारी का होगा, जो इनके किराये की दरें निश्चित करता रहेगा। हेतु यह कि उत्पादन के साधनों की भाँति परिवहन के साधनों का भी कोई दुरुपयोग करके समाज में असमानता पैदा न करे, उसे दूसरों के शोषण का साधन न बना ले और अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा न कर दे। ◆◆◆

: ९ :

मजदूर और उद्योगों का सम्बन्ध

पिछले अध्यायों में बार-बार कहा गया है कि सर्वोदय

की अर्थ-व्यवस्था में उद्योग-प्रणाली का मुख्य भाग वह होगा, जिसके अन्दर स्वतंत्र कारीगर और सहकारी समितियाँ होंगी। अर्थात् उसमें—रोजी देनेवाला और रोजी पानेवाला—ऐसा भेद होगा ही नहीं। इससे पूँजीवाद और राज्य के समाजवाद के अन्दर की एक खास और कष्टदायक बुराई दूर हो जायगी। स्वतंत्र कारीगरों के क्षेत्र में उत्पादन के साधन कारीगरों के अपने होंगे। इसलिए न तो कारीगर किसीका नौकर होगा, न उसका कोई नौकर होगा, इसलिए इस क्षेत्र में औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या पैदा ही नहीं होगी। सहकारी क्षेत्र में भी उत्पादन के साधन या तो काम करनेवालों के अपने होंगे या होंगे समाज के और कामगार ही इन सहकारी समितियों के द्वारा उत्पादन और बिक्री का प्रबन्ध कर लेंगे। इसलिए इस क्षेत्र में भी मालिक-मजदूर जैसी समस्या पैदा नहीं होगी। तीसरे क्षेत्र—सामाजिक क्षेत्र—में उद्योगों का स्वामित्व समाज अथवा शासन के हाथ में होगा और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यथासम्भव इनका संचालन स्थानीय समितियों या ग्राम-समितियों द्वारा संघटित सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा होगा। केन्द्रीकृत उद्योगों में प्रायः नौकरशाही तथा शक्ति के केन्द्रित हो जाने की आशंका बराबर बनी रहती है, भले ही उन उद्योगों पर शासन अथवा समाज का स्वामित्व हो। इसलिए इस बात की सतर्कता बराबर बढ़ती जायगी कि इन उद्योगों के प्रबन्ध और प्रशासन में ऐसे तत्त्व न घुस आयें कि उससे नौकरशाही का एक वर्ग अथवा अलोकतान्त्रिक व्यवस्थापकों की परम्परा स्थापित हो जाय। केवल सार्वजनिक

स्वामित्व होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि शक्ति का केन्द्रीकरण अथवा नौकरशाही की परम्परा रुक जायगी। अतः इसके संचालन की विधि ऐसी होगी कि उसमें लोक-तान्त्रिक परम्परा का ही प्राधान्य रहे। इसका फल यह होगा कि मालिक-मजदूर-सम्बन्ध नाम की कोई चीज न रहेगी। और चूँकि कामगार ही उद्योग का प्रबन्ध करेंगे, वहाँ काम करने की सब प्रकार की—आदर्श—सुविधाएँ होंगी। वे खयाल रखेंगे कि उद्योगों में कहीं ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण न हों, जिनका असर कामगारों के शरीर या मन पर बुरा पड़े। काम के घंटे मुकर्रर होंगे और प्रबन्ध-समिति—जिसके सदस्य कामगार ही खुद होंगे—कामगारों के मनोरंजन और आरोग्य-सम्बन्धी देखभाल का पूरा प्रबन्ध रखेगी। कारखानों में तैयार होनेवाली चीजों की कीमतों का निर्णय कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार होगा, जिनका उल्लेख पिछले एक अध्याय में आ चुका है। इसके अलावा उद्योग के अन्दर किस महकमे में किन्हें-किन्हें क्या-क्या पारिश्रमिक दिया जाय, इसका निर्णय भी खुद कामगार ही अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करेंगे। असल में यहाँ पारिश्रमिक—मजदूरी—ही गलत शब्द है। क्योंकि कोई मालिक ही किसी नौकर या मजदूर को इस तरह पारिश्रमिक दिया करता है और वह स्थिति तो रहेगी ही नहीं।

मतलब यह कि समाज अथवा शासन द्वारा चालित बड़े उद्योग-क्षेत्रों में भी औद्योगिक झगड़े जैसी कोई चीज नहीं रहेगी। किसी भी उद्योग के कामगारों को, चाहे वह उद्योग

सहकारी क्षेत्र में हो या बड़े सामाजिक उद्योगों के क्षेत्र में—यह अधिकार होगा कि अपनी मजदूर संस्थाएँ बना सकें। निश्चय ही ये सभाएँ आज की उद्योग-क्षेत्रों में चल रही मजदूर-सभाओं से एकदम भिन्न प्रकार की होंगी। आज तो उद्योग का एक अंग दूसरे अंग के खिलाफ अपने अधिकारों को मंजूर करवाने के लिए संगठन करता है अथवा अधिकारों की रक्षा करने के लिए झगड़ता है, किन्तु तब तो इस तरह एक अंग दूसरे का विरोधी रहेगा ही नहीं। वे तो ऐसे कामगारों के संगठन होंगे, जो खुद ही मालिक और खुद ही कामगार होंगे। अतः उन्हें न किन्हीं अधिकारों की किसीसे माँग करनी होगी और न कोई अधिक हिस्सा मिलने के लिए झगड़ना होगा। वे तो ऐसे संगठन होंगे, जिनके द्वारा कामगार उद्योग, समाज और अपने प्रति कर्तव्यों का पालन करेंगे।

रोजी वगैरा की निश्चिन्तता के लिए पिछले अध्याय में बताये अनुसार बीमा-योजनाएँ होंगी और समाज की तरफ से हर मनुष्य को पूरा काम देने का आश्वासन रहेगा ही। शहरों और बड़े-बड़े उद्योग-केन्द्रों में रहनेवाले कामगारों के लिए साफ-सुथरे मकान और स्वास्थ्यकर बस्तियाँ बना दी जायँगी।

यह भी पहले कहा जा चुका है कि आजकल जिसे मजदूरी कहते हैं, ऐसी कोई चीज सर्वोदय की अर्थ-व्यवस्था में नहीं होगी। क्योंकि वह ऐसा समाज होगा, जिसमें हर मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार काम करेगा और जरूरत के लायक लेगा। जो कुछ असमानता रहेगी, वह केवल तादाद में ही। सब प्रकार के काम का मूल्य—चाहे वह शारीरिक हो या बौद्धिक—समान होगा।

और भिन्न-भिन्न पेशों की आय में भी कोई अन्तर न होगा।

परन्तु संक्रमण-काल में विषमताओं को क्रमशः मिटाने के लिए शासन व समाज को कुछ नैतिक ढंग की जबर्दस्ती—मृत्यु-कर वगैरा का सहारा लेकर करनी पड़ेगी। अन्त में विषमता का अनुपात १ : १० से किसी प्रकार अधिक नहीं होगा। इस प्रकार सबसे पहले तो यह प्रयत्न होगा कि किसी भी परिवार की मासिक आय १००) से कम और अधिक-से-अधिक आय १०००) मासिक से ऊपर न होगी।

इसके अलावा शासन, सार्वजनिक संस्थान अथवा गाँव-सभाएँ कामगारों के मनोरंजन या स्वास्थ्य-लाभ के लिए क्रीड़ागार या विश्राम-स्थान बनायेंगे और जिन कामगारों को ऐसे काम करने पड़ें, जिनमें शरीर या मस्तिष्क को हानि पहुँचने का खतरा हो अथवा जहाँ अत्यधिक परिश्रम करना पड़े, उनके स्वास्थ्य-लाभ और मनःस्वास्थ्य के लिए विशेष प्रकार की सुख-सुविधाओं का भी प्रबन्ध रहेगा। ०००

: १० :

शिक्षा

अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा-क्षेत्र में भी उसके उद्देश्य, प्रणाली और पाठ्य-विषय आदि में परिवर्तन की आवश्यकता है। बल्कि ऐसा कहें कि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इस क्षेत्र में तो और भी आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षा का यह उद्देश्य नहीं होगा कि वह ऐसा विशिष्ट वर्ग पैदा करे, जो

उत्पादक शारीरिक श्रम को हेय समझे और स्वार्थ-भाव से प्रेरित होकर अपनी शिक्षा और बुद्धि का उपयोग कर निर्धनों और आवश्यकताग्रस्त लोगों के बल पर मोटा हो। बल्कि यह होगा कि लोग जीवन की कला सीखें—उत्पादकों के समाज में रहना सीखें, श्रम के गौरव और आवश्यकता को समझें, अपने आसपास के समाज का खयाल रखने और उसकी माँगों को समझने लगें, अपने और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को समझकर पूरा करने को तत्पर होना सीखें और अपनी बुद्धि तथा शक्ति का विकास करके सबको ज्ञान देने तथा समाज का कल्याण करने में उनका उपयोग करना सीखें। यह शिक्षा जीवन के लिए और प्रत्यक्ष जीवन के द्वारा होगी। उसे समाज की जरूरतों के साथ जोड़ दिया जायगा और किसी समाजोपयोगी उत्पादन-क्रिया के द्वारा वह दी जायगी। शिक्षण की प्रारम्भिक अवस्था में, विशेषकर बुनियादी स्तर पर, इस बात का प्रयत्न किया जायगा कि शिक्षार्थी आत्म-निर्भर हों और बाद की अवस्था में, विशेषकर ऊँची कक्षाओं में, शिक्षा-व्यय छात्र के उत्पादक श्रम द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जायगा, यह भी प्रयत्न किया जायगा कि छात्र यथासम्भव शिक्षा-व्यय के मामले में आत्मनिर्भर हो जाय। प्रत्येक छात्र को अपने वर्ग के लिए निर्धारित बुनियादी दस्तकारी तथा बुनियादी शिक्षा के अन्य विषयों में तदनुरूप प्रवीणता प्राप्त करनी होगी। दस्तकारी में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इस प्रवीणता के फलस्वरूप छात्र अधिकाधिक इस योग्य होता जायगा कि वह आत्मनिर्भर हो तथा शालेय समाज (छात्रों-

अध्यापकों सहित) उसके इस श्रम से प्रायः आत्मनिर्भर हो जाय। यदि छात्र के विद्यालय में रहने की सम्पूर्ण अवधि की दृष्टि से विचार करें, तो यह हिसाब ठीक ही बैठेगा।

उत्तर-बुनियादी और उच्च शिक्षा भी इसी प्रकार किसी समाजोपयोगी उत्पादक कार्य या दस्तकारी के द्वारा होनी चाहिए। प्राथमिक वर्गों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो और उत्तर-बुनियादी तथा उच्च वर्गों में प्रादेशिक अथवा राष्ट्रभाषा।

समाज का यह कर्तव्य होगा कि तमाम बच्चों की बुनियादी शिक्षा का और जो प्राथमिक शिक्षा पूरी करके आगे बढ़ना चाहें, उनके लिए उच्च तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करे। गाँव के प्रत्येक बच्चे को और बच्ची को भी नयी तालीम द्वारा या अन्य प्रकार से किसी दस्तकारी की प्रशिक्षा लेकर उसमें तथा उससे समन्वित अन्य विषयों में भी आठ वर्ष के बुनियादी प्रशिक्षण में जितनी योग्यता प्राप्त होती है, वह प्राप्त करनी होगी।

शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण न होगा। शिक्षक और शिक्षा-संस्थाएँ पाठशालाएँ और उच्च शिक्षण की संस्थाएँ चलायेंगे और शिक्षण के प्रयोग भी करते रहेंगे। जहाँ पाठशालाएँ या शिक्षा-संस्थाएँ नहीं होंगी या कम होंगी, वहाँ शिक्षा सबके लिए उपलब्ध करने के हेतु ग्राम-सभाएँ या राज्य पाठशालाएँ खोलेंगे या उनका खर्च देंगे। परन्तु शिक्षा-पद्धति पर उनका नियन्त्रण न होगा। शिक्षा की पद्धति, पाठ्यक्रम वगैरा का निश्चय शिक्षकों का एक मण्डल करेगा—शिक्षण-संस्थाओं और

व्यक्तियों को शिक्षण के प्रयोग करने की स्वतंत्रता रहेगी। शासन और समाज उनके इस काम के लिए अर्थ का प्रबन्ध कर देंगे, परन्तु उसमें हस्तक्षेप करने का यत्न नहीं करेंगे।

हर गाँव में एक बाल-मंदिर (पूर्व-बुनियादी शाला) और बुनियादी शिक्षा की एक या अधिक शालाएँ होंगी। परन्तु उनकी पढ़ाई में समानता होगी। इसके अलावा उत्तर-बुनियादी या उच्च शिक्षण की संस्थाएँ भी होंगी। कहीं-कहीं किसी दस्तकारी की विशेष प्रशिक्षा देनेवाली संस्था भी होगी। ये ऐसी जगह रखी जायँगी कि किसी भी गाँव से चार-पाँच मील से अधिक दूर नहीं पड़ेंगी। इन शालाओं का प्रबन्ध शिक्षा-समितियों के हाथों में होगा और इनके खर्च की पूर्ति करने की जिम्मेवारी उन गाँवों की होगी, जो इनसे लाभ उठायेंगे।

उच्च और विश्वविद्यालय की शिक्षा का भी पूरी तरह पुनस्संगठन किया जायगा। उच्च शिक्षा भी किसी समाजोपयोगी उत्पादक क्रिया के साथ जुड़ी होगी। आरोग्य और चिकित्सा-विज्ञान, इंजीनियरिंग तथा ऐसे ही अन्य विषयों की शिक्षा का भी प्रबन्ध होगा। विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध विश्व-विद्यालय करेंगे। वे बुनियादी प्रकार के, औद्योगिक और यान्त्रिक शोध की संस्थाएँ भी चलायेंगे। जैसा कि पिछले एक अध्याय में कहा गया है, उद्योगों की भी अपनी शोध-संस्थाएँ होंगी ही। इसके अलावा राज्यों और राष्ट्र की भी शोध-परिषदें होंगी, जो इन विभिन्न शालाओं में चल रहे शोधों का समन्वय करती रहेंगी और सारे देश में चल रहे शोधों की इन सबको खबरें देती रहेंगी। जहाँ जैसी जरूरत होगी, राज्य-शासन अपने प्रदेश

के विश्वविद्यालयों, शोध-संस्थाओं और उच्च शिक्षा-संस्थाओं की आर्थिक मदद करता रहेगा। केन्द्रीय शासन भी अपनी विज्ञान-शालाएँ स्थापित कर सकता है और राज्यों की शोध-संस्थाओं और उच्च शिक्षा-संस्थाओं की मदद करता रहेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति करने की इच्छा रखनेवाले शिक्षकों और विद्यार्थियों को खोजकर शिक्षा-संस्थाओं को तथा राज्यों की सरकारों को उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में क्रान्ति करने के लिए कई कदम तुरन्त उठाने की जरूरत है। शिक्षा की पद्धतियों और पाठ्य-पुस्तकों को एकदम बदल देना होगा। एक वार यह निश्चय हो जाय कि शासकीय नौकरियों और व्यापारी पीढ़ियों के लिए विश्वविद्यालय की उपाधियाँ अनिवार्य नहीं मानी जायँगी, तो आज की उच्च शिक्षा में इस संक्रमण-काल में भी काफी सुधार किया जा सकता है। शिक्षकों को प्रशिक्षित करनेवाली संस्थाओं की संख्या बढ़ानी होगी। खुद शिक्षक के धन्धे में भी वहुत सुधार की जरूरत है। जिन लोगों ने क्रियाशील जीवन को छोड़कर अपने धन्धे या नौकरियों से अवकाश प्राप्त कर लिया है और जो नौजवानों को अपने अनुभव और मधुरता का लाभ देने की इच्छा रखते हैं, उनकी सेवाओं का लाभ भी अवश्य उठाना चाहिए। यह बात माननी होगी कि प्रायः शिक्षिकाएँ प्राथमिक वर्गों के बच्चों की समस्याओं को अधिक अच्छी तरह समझ और सुलझा सकती हैं। इसलिए शिक्षण के काम के लिए जितनी बहनों की सेवाएँ उपलब्ध की जा सकें, करनी चाहिए।

इस सबके अलावा गाँव-सभाओं और राज्य सरकारों को प्रौढ़-शिक्षा और समाज-शिक्षा की मुट्ठी में चलाने का काम हाथ में लेने की जरूरत है। यह कार्य 'एक घण्टे की पाठशाला' एवं ग्राम-विश्वविद्यालयों के माध्यम से भलीभाँति हो सकता है। प्रौढ़-शिक्षा केवल लिखने-पढ़ने या हिसाब-किताब में ही समाप्त नहीं हो जाती। हमें प्रौढ़ों को नये समाज के समझदार नागरिक बनाना है। क्योंकि यह पहले ही बता दिया जा चुका है कि समाज का राजनैतिक और आर्थिक ढाँचा बदल देनेभर से सर्वोदय का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो जायगा। इसके लिए तो धीरज के साथ और अनवरत रूप से शिक्षा द्वारा और समझा-बुझाकर प्रत्येक मनुष्य का सारा दृष्टिकोण बदलना होगा, क्योंकि यही नये समाज के आधार होंगे। ◆◆◆

: ११ :

स्वास्थ्य और सफाई

केवल आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं का कायाकल्प कर देनेभर से सर्वोदय-समाज की स्थापना नहीं हो जायगी। न्याय और समानता के आधार पर अर्थ-व्यवस्था और राजनैतिक रचना स्थापित कर देने के अलावा सर्वोदय में और भी बहुत-सी बातें होती हैं। वह तो सत्य, प्रेम और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्ति और समाज के ज़ीवन को जिस प्रकार ढाला जाता है, उस जीवन-पद्धति का नाम है। सर्वोदय जिस स्वराज्य की कल्पना कर रहा है, वह तो आत्म-संयम के आधार

पर ही स्थापित हो सकता है। इसलिए सर्वोदय-समाज के अन्दर रहनेवाले लोगों की आदतें और रहन-सहन हमारे आज के समाज की अपेक्षा बिलकुल भिन्न होंगी। आज के इस युग में यंत्र मानव-जीवन पर बुरी तरह हावी हो गये हैं और इनके कारण मनुष्य शरीर और मन से अत्यधिक परेशान रहता ह। सर्वोदय-समाज की रहन-सहन और आदतें मनुष्य के व्यक्तित्व को ऐसा वना देंगी कि वह इन परेशानियों से बच जायगा। जब मनुष्य इन परेशानियों से बच जायगा, जब वह आजीविका शान्ति और निश्चिन्तता के साथ प्राप्त कर सकेगा, जब शरीर और दिमाग के लिए हानिकर परिस्थितियों में काम करने से उसे छुट्टी मिल जायगी, जब पोषक और शरीर के लिए आवश्यक सभी रसों से युक्त भोजन उसे मिलने लगेगा, जब गाँव-सभाएँ और राज्य समाज के लिए स्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ निर्माण कर देंगे, तब भुखमरी, सारहीन खूराक, गंदगी, मानसिक परेशानियाँ और बिगड़े हुए तौलवाले जीवन में पैदा होनेवाली बीमारियाँ अपने-आप कम हो जायँगी। फिर भी ऐसी अनेक बीमारियाँ रहेंगी ही, जिनके रोकने और मिटाने की जरूरत रहेगी। सर्वोदय यह ठीक नहीं मानता कि अपने स्वास्थ्य की परवाह न करके लोग मनमाना भोग-विलास करते रहें। क्योंकि वह जानता है कि इस तरह के जीवन से स्वास्थ्य को जो हानि पहुँचती है, उससे दवाएं मनुष्य को बचा नहीं सकतीं।

फिर भी बीमारियों को रोकने और दूर करने के सब उपाय किये जायँगे। गाँव-सभाएँ समाज को बीमारियों के कारण बतायेंगी और उनसे बचने के उपाय भी समझायेंगी।

समाज और शासन इस बात का पूरा प्रयत्न करेंगे कि औषधोपचार सबके लिए सुलभ हो जाय। दवाखाने, अस्पताल और स्वास्थ्यसम्बन्धी सलाह देनेवाले केन्द्र पर्याप्त संख्या में गाँवों में तथा शहरी क्षेत्रों में स्थापित कर दिये जायेंगे और प्राकृतिक उपचार, आयुर्वेद, होमियोपैंथी और एलोपैथी, सब पद्धतियों का उपयोग किया जायगा और यह प्रबन्ध किया जायगा कि इलाज सबके लिए सुलभ हो जाय। औषधि-विज्ञान और शल्य-क्रिया के प्रशिक्षण की और सब प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियों में शोध की सुविधाएँ भी कर दी जायँगी। इस प्रकार जनता जिस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति से लाभ उठाना चाहेगी, लाभ उठा सकेगी। परन्तु समाज तो सबको यही शिक्षण देगा कि सर्वोपरि पद्धति तो प्राकृतिक उपचार ही है। और यह कि अन्धाधुन्ध औषधि-सेवन मनुष्य को ऐसी शक्ति प्रदान नहीं कर सकती कि वह मनमाना अतिरेक करता रहे।

डॉक्टरों को यह इजाजत नहीं होगी कि वे अपने पेशे को धन कमाने का साधन बना लें। उनको समाज की तरफ से वेतन मिलेगा। गाँव-सभाएँ और ऊपर की संस्थाएँ स्वास्थ्य-बीमे की योजनाएँ बनाकर समाज के आरोग्य का प्रबन्ध करेंगी।

औषधियों के निर्माण का काम शासन या समाज का होगा। बहुत-सी औषधियाँ स्थानीय वनस्पतियों से ही बना ली जायँगी। इनका निर्माण गाँव-सभाएँ इस शास्त्र के विशेषज्ञों की देखभाल में करायेंगी। प्रत्येक गाँव में वनौषधियों का एक बाग होगा। जो औषधियाँ या शल्यक्रिया के उपकरण गाँवों

में नहीं बनाये जा सकेंगे, उनका निर्माण राज्य करेगा। समाज कुष्ठ, क्षय और नासूर जैसे महारोगों से पीड़ितों के इलाज का विशेष प्रबन्ध पृथक् दवाखाने बनाकर करेगा। इसके अलावा लोगों के लिए विश्रामघर, स्वास्थ्य-लाभ के स्थान वगैरा प्रादेशिक अधिकारी बनायेंगे ही।

स्वास्थ्य के लिए हानिकर जीवन से लोगों को बचाने का हर प्रयत्न किया जायगा। मद्य मात्र का निर्माण और बेचना कानून से मना होगा। केवल औषधि के तौर पर वह मिल सकेगा। मद्यनिषेध राज्य की मान्य नीति होगी। अफीम, शराब जैसी नशीली चीजें जनता के लिए उपलब्ध न होंगी। वे केवल डॉक्टरों को ही बेची जा सकेंगी जो इस बात का पूरा ध्यान रखेंगे कि इनका उपयोग केवल औषधि के रूप में ही किया जाय। जब हर आदमी के लिए पोषक खूराकें आवश्यक मात्रा में उपलब्ध होंगी, उसकी रहन-सहन अच्छी होगी, जब काम करने की जगह और पद्धति स्वास्थ्य के लिए हानिकर नहीं होगी, जब काम कष्टदायक नहीं,बल्कि सृजनात्मक और आनन्द-दायक होगा, जब फुरसत के समय का उपयोग मनुष्य मनो-विनोद और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में कर सकेगा, तब अपने-आपको पागल बनाने या बेहोश करनेवाले नशों का सेवन करने की मनुष्य को इच्छा ही नहीं रहेगी। शारीरिक स्वच्छता और घर-आँगन की सफाई आरोग्य के लिए परम आवश्यक है। इसका ज्ञान ग्राम-सभा जनता को देगी और इनकी तरफ पूरा ध्यान देगी। हर गाँव में पीने के लिए स्वच्छ पानी का प्रबन्ध होगा। गाँवों में गन्दे पानी के गढ़े, खुली नालियाँ या

ऐसी कोई जगह नहीं होगी, जहाँ मच्छड़, मक्खियाँ या ऐसे ही बीमारी फैलानेवाले कीड़े पैदा हों।

लोगों को समझाया जायगा कि वे खाई की या गढ़े की टट्टियों का ही उपयोग करें। ये सस्ती होती हैं और आसानी से बनायी जा सकती हैं। इनके उपयोग से बीमारियाँ नहीं फैलतीं। पेशाब और पाखाने का उपयोग खाद के लिए किया जायगा। शहरों में इनके बनाने की सुविधा नहीं होती। वहाँ पलश पद्धति की टट्टियाँ होंगी। और कूड़े-कचरे से गैस बनाने का प्रबन्ध होगा, जो रोशनी के काम में आ सकेगा। पाखाना भी इस काम में लाया जा सकता है। इस प्रकार गाँवों और शहरों में भी भंगियों की जरूरत नहीं होगी और सैकड़ों वर्ष से चले आये एक अन्याय का अन्त हो जायगा।

हर गाँव में प्रसूतिघर होंगे, जहाँ प्रसूति में मदद के लिए प्रशिक्षित दाइयाँ होंगी। प्रसूति से पहले और प्रसूति के बाद में जच्चा की पूरी देखभाल और परिचर्या का प्रबन्ध होगा। स्त्रियों और पुरुषों को भी यह शिक्षा दी जायगी कि व्यक्ति और समाज के शारीरिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के लिए संयम बहुत आवश्यक है और असंयम में मनुष्य का सर्वनाश। यही नहीं, वह समाज की नैतिक बुनियाद को नष्ट कर देता है। सयम के बगैर नीति, संस्कार और ज्ञान सब बेकार बन जाते हैं। ये टिक ही नहीं सकते। असल में संयम समाज की आधारशिला है।

समाज में अगर कहीं संयम का स्थान असंयम ले ले, तो मुसीबतों का अन्त ही नहीं। उस समाज के व्यक्ति चरित्र-भ्रष्ट होंगे। वह बीमारियों का घर होगा। आबादी और बाल-

मृत्यु बढ़ेगी और बच्चों की अच्छी तरह सँभाल नहीं हो पायेगी। संयम ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे पति-पत्नी के बीच प्रेम और आदर बढ़ता है और परिवार तथा समाज का वातावरण नैतिक बना रहता हैं। स्त्रियों को बार-बार की प्रसूति के कष्ट से और बच्चों को लापरवाही से बचाना बहुत आवश्यक है। क्योंकि इससे स्त्रियों और बच्चों, दोनों के स्वास्थ्य को बड़ी हानि पहुँचती है। यह सब संयम से ही हो सकता है। इसलिए समाज अपने हित के लिए संयम का वातावरण बनायेगा। इसका असर साहित्य, सिनेमा तथा उन तमाम चीजों पर भी अपने-आप पड़ेगा, जिनका समाज पर प्रभाव पड़ता है। ◆◆◆

: १२ :

प्रतिरक्षा

आज की परिस्थितियों में प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण अधिकांश राष्ट्रों के बजट में इस मद पर ही सबसे अधिक रकम दिखाई जाती है। यहाँ तक कि तटस्थ राष्ट्रों को भी, जिनका आतंक युद्ध से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, विवश होकर अपने राजस्व का अनुपाततः अधिक भाग अपनी सैन्य शक्ति को यथावत् कायम रखने एवं उसे बढ़ाने में लगाना पड़ता है। प्रायः सभी देशों से उनके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहते हैं और किसी भी राष्ट्र की ओर से उन्हें आक्रमण की आशंका नहीं रहती। फिर भी देशी तथा विदेशी संकट से त्राण पाने के लिए उनके पास भी सशक्त सैन्यदल बनाये रखने के सिवा दूसरा चारा नहीं रह जाता।

शस्त्रास्त्रों की संहारक शक्ति में जो अत्यधिक वृद्धि हुई है, उससे युद्धों के स्वरूप, कौशल और परिणाम में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। आणविक और स्वचालित अस्त्रों के इस युग में आक्रमण और प्रतिरक्षा के परम्परागत ढंग आज अपर्याप्त एवं बेकार-से हो गये हैं। युद्धों के निर्णायक अस्त्र आज इतने व्यय-साध्य हो गये हैं कि आज कुछ ही राष्ट्रों में यह सामर्थ्य है कि वे उनकी सहायता से अपनी सेना सुसज्ज कर सकें और इस पर भी वह सेना सफलतापूर्वक देश की प्रतिरक्षा कर सकेगी, इसमें सन्देह ही है। यही कारण है कि बहुत-से राष्ट्र मिलकर सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय सैनिक-संघटनों का सहारा ले रहे हैं। बड़े-बड़े सबल और सशक्त राष्ट्र भी, जिनके पास इतने साधन हैं कि वे आज के युद्धों का सामना कर सकने योग्य सैन्य-शक्ति का संघटन कर लें, अपने को इस योग्य नहीं समझते कि युद्ध होने पर वे विजय प्राप्त कर ही लेंगे या उनके प्रतिरक्षा-साधन अभेद्य हैं। शस्त्रास्त्र-निर्माण की होड़ के इस जमाने में कोई भी राष्ट्र तब तक सन्तोष-लाभ नहीं कर पाता, जब तक कि वह भी निर्माण के इस कार्य में अपने को लगा नहीं लेता। आणविक अस्त्रों की सर्वसंहारकारिणी क्षमता तथा युद्ध में विजय-लाभ कर पाने की अनिश्चित अवस्था एवं विजयी होने पर भी बहुत कुछ हाथ न लग पाने के नैराश्यजन्य भाव ने सभी राष्ट्रों के मन में युद्ध और उसके परिणामों के प्रति एक प्रकार का भय पैदा कर दिया है। कोई भी ऐसे युद्ध में आज उतरने को तैयार नहीं है, जिसका परिणाम सर्वथा अनिश्चित हो। सभी राष्ट्र युद्ध से ऊबे-से हैं और इसीलिए सभी निरस्त्रीकरण के लिए

लालायित हैं। लेकिन कोई भी राष्ट्र इस कार्य में अगुआ नहीं बनना चाहता। सभी यह कहते हैं कि यदि अन्य राष्ट्र सैन्य-शक्ति घटायें, तो उसी अनुपात में हम भी कमी कर देंगे। यह दुश्चक्र इतना व्यापक है कि वैसे तो सभी राष्ट्र शान्ति की कामना करते हैं, किन्तु आकस्मिक स्थिति के लिए सभी तैयारी भी करते जाते हैं।

सर्वोदय को हिंसा में कोई निष्ठा नहीं है और इसीलिए युद्ध के प्रति भी कोई आस्था नहीं है। यह किसी भी रूप में हिंसा का विरोधी है, चाहे वह व्यक्तियों के जीवन में हो या राष्ट्रों के। सभी प्रकार के विवादों और समस्याओं के समाधान के लिए नैतिक आधार पर यह समझाने-बुझाने या अन्ततः सत्याग्रह के मार्ग का अवलम्बन ही उचित समझता है। यह इस बात को बिलकुल नहीं मानता कि युद्धों से समस्याओं का समाधान हो सकता है, अतः यह चाहता है कि सभी राष्ट्र शान्ति का रास्ता अख्तियार करें, जिससे विवादग्रस्त प्रश्न भलीभाँति सुलझाये जा सकें। जिस शान्ति की यह कल्पना करता है, वह सैन्य-शक्ति के भरोसे प्राप्त की गयी शान्ति नहीं है, जिसके चलते विरोधी राष्ट्र भय के कारण शान्त बने रहने को विवश होते हैं। इसका विश्वास ही इस बात में नहीं है कि परस्पर एक-दूसरे को भयाक्रान्त करके उन्हें आक्रमण से विरत किया जा सकता है। इसकी तो मान्यता यह है कि युद्ध तभी समाप्त किया जा सकता है, जब कि सब राष्ट्र शुद्ध भाव से यह मान लें कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का तरीका युद्ध नहीं है। यदि युद्ध का अन्त करना है, तो सभी राष्ट्रों को निरस्त्रीकरण की विधि अपनानी होगी, किन्तु यदि प्रत्येक

राष्ट्र यह सोचने लगें कि निरस्त्रीकरण तभी सम्भव है, जब कि सब राष्ट्र इसके लिए तैयार हों, तो निरस्त्रीकरण कभी न हो पायेगा। किसी-न-किसीको तो अगुआ बनना ही होगा, जिसमें दूसरों के लिए भी रास्ता खुले। निरस्त्रीकरण के मामले में इस समय जो गतिरोध की अवस्था है, वह तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक कि कोई एक राष्ट्र साहस करके आगे नहीं बढ़ता और दूसरों के लिए उदाहरण नहीं उपस्थित करता। अहिंसा में विश्वास करने-वाला तब तक चुप नहीं बैठा रहता, जब तक कि उसका प्रतिपक्षी भी अहिंसा का भाव अपना नहीं लेता। प्रतिपक्षी में हिंसा का भाव रहते हुए भी वह अपनी अहिंसक शक्ति से काम लेता है। यदि मानव-समाज को युद्धों से बचाना है, तो राष्ट्रों को भी यही तरीका अपनाना होगा। सत्याग्रह के सब ढंग तभी कारगर हो सकते हैं, जब कि एकाकी होने पर भी सत्याग्रही दृढ़ निश्चय और निष्ठापूर्वक सत्य और अहिंसा को अपना ले। सर्वोदय के प्रति निष्ठा और विश्वास रखनेवालों को भी अपना कर्तव्य समझकर अपने-अपने राष्ट्रजनों को यह बात बतानी होगी कि युद्ध दूर करने का तरीका यही है कि वे लोग निरस्त्रीकरण की ओर बढ़ने के लिए अपूर्व साहस दिखायें।

(१) शान्तिविषयक भारतीयों की निष्ठा परम्परया ऐतिहासिक और अखण्ड है। इस परम्परा की नवीनतम अभि-व्यक्ति स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के प्रसंग में अहिंसात्मक आन्दोलन के रूप में गांधीजी द्वारा प्रेरित और विकसित हुई। यह आन्दोलन राष्ट्रीय जीवन में शान्ति-मार्गसम्बन्धी सम्भावनाओं को व्यक्त करने में ही सफल नहीं हुआ, वरन् इस निष्ठा को व्यावहारिक

रूप देने के कौशल को विकसित करने में भी सफल हुआ। भारत का यह कर्तव्य है कि निष्ठा की यह बात और उसे व्यावहारिक रूप देने का यह कौशल वह संसारभर में फैलाये और एकांगी ही सही, निरस्त्रीकरण का कार्यक्रम अपनाने की नीति पर चले। जितना ही शीघ्र भारत इस काम में हाथ लगायेगा, उतना ही उसके लिए तथा संसार के लिए लाभ की बात होगी।

(२) राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समाज में आज जो संघर्षमूलक प्रवृत्तियाँ व्याप्त हैं, उनका कारण जीवनविषयक दोषपूर्ण मान्यताएँ हैं, जिनका विवेचन प्रथम भाग में किया जा चुका है। अतः निरस्त्रीकरण की बात सफल बनाने के लिए तथा युद्ध के निवारण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-प्रणाली के आधार में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जायँ। आज प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों के सम्बन्ध में इस संकीर्ण बुद्धि से विचार करता है कि दूसरे राष्ट्रों के हितों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता। सर्वोदय की दृष्टि यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति अथवा राष्ट्र-राष्ट्र के हितों में संघर्ष के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार शान्ति और स्वतन्त्रता अविभाज्य है, वैसे ही सबके हित भी अविभाज्य हैं। हितों में संघर्ष की बात ही नहीं उठती। आज जिसे राष्ट्रीय हित समझा जाता है, वही कल दोष हो सकता है, यदि उसके चलते दूसरे राष्ट्रों के हितों से संघर्ष की नौबत आये। इसलिए यह आवश्यक है कि संसार के लोग इस बात का विचार करें कि आज विभिन्न राष्ट्रों के जो हित परस्पर टकराते दिखाई देते हैं, उनसे अन्ततः किसी भी राष्ट्र का वास्तविक हित नहीं हो सकता। संसार में शान्ति तभी ह

सकती है, जब विश्व-समाज के हित को आज के संकीर्ण राष्ट्रीय हित के ऊपर समझा जाय। अतः विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक है कि सबके हितों को समन्वित किया जाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का निर्माण किया जाय, जिसमें विभिन्न राष्ट्र पृथक्-पृथक् रूप से अपने ही हितों की बात न सोचें, वरन् दूसरों के हितों पर भी उनका ध्यान रहे और परस्पर एक-दूसरे का हित करने के लिए त्याग करने को भी तत्पर रहें।

पिछले अध्यायों में जिस ढंग के नियोजन की रूपरेखा खींची गयी है, उसके कार्यान्वित होने पर इस दिशा में निर्णायक कदम तो अपने-आप उठ चुके रहेंगे। अहिंसक आधार पर जब आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना हो जायगी, तो राष्ट्र अहिंसा की अद्‌भुत् शक्ति से स्वयमेव परिचित हो जायगा और तब वह अपनी प्रतिरक्षा के हेतु इसी शक्ति का उपयोग करने के लिए तैयार भी रहेगा। गरीबी, शोषण और विषमता दूर हो जाने पर राष्ट्र में एकता का प्रबल भाव उत्पन्न हो जायगा और तब अहिंसात्मक प्रणाली से आत्मरक्षा की व्यवस्था करना सुगम हो सकेगा। अहिंसक समाज में रहनेवाले व्यक्तियों का जीवन ही इस ढंग का होगा कि उन्हें अहिंसात्मक प्रतिरक्षा की विधि अपने-आप ज्ञात हो जायगी। सर्वोदय समाज की प्रवृत्ति ही आक्रामक या विस्तारवादी नहीं हो सकती। आक्रमण के लिए यह दूसरों को किसी प्रकार की उत्तेजना भी नहीं प्रदान करेगा, क्योंकि सभी राष्ट्रों से इसके वास्तविक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहेंगे। और इस प्रकार युद्ध का भय समाप्त हो चलेगा तथा निर्भयता और आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न हो जायगा।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अभी तो ऐसे समाज की स्थापना आगे चलकर कभी होगी और राष्ट्रों को इस बीच अपनी प्रतिरक्षा की तैयारी करनी ही पड़ेगी। किन्तु हम शक्तिगुटों में सम्मिलित होने से अपने को बचायेंगे और ऐसी नीति अपनायेंगे कि जिससे वास्तविक और सक्रिय मैत्री की भावना दृढ़ हो। सर्वत्र लोग हिंसा से ऊबे हुए-से हैं; किन्तु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान हिंसा के माध्यम से करने की नीति में उनका विश्वास अब भी बना हुआ है। वे अहिंसात्मक प्रतिरक्षा के प्रति आज भी शंकाशील हैं। अहिंसा की शक्ति में विश्वास रखनेवालों को ऐसे वातावरण की सृष्टि करने की कोशिश करनी होगी, जिससे लोगों में अहिंसात्मक प्रतिरक्षा का भाव उत्पन्न हो। लेकिन यह शंकाशीलता एक दिन में दूर नहीं हो सकती। जब तक लोग हिंसा और युद्ध को अनिवार्यतः आवश्यक समझते रहेंगे, तब तक सरकारों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपनी सेनाएँ विघटित कर दें या सशस्त्र प्रतिरक्षा के भाव से विरत हो जायँ। जब तक लोगों में व्यापक रूप से अहिंसात्मक प्रतिरक्षा की शक्ति, सामर्थ्य और महत्ता के प्रति दृढ़ विचार नहीं फैल जाता, तब तक सरकारें यह कार्य नहीं कर सकतीं। अतः वे निश्चय ही उन्हीं तरीकों और अस्त्रों से देश की रक्षा की व्यवस्था करती रहेंगी, जिनके प्रति उनकी आस्था है।

अहिंसा के प्रति निष्ठा रखनेवाले सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत कर दिखा सकते हैं कि सैनिक-शक्ति द्वारा किये गये आक्रमण का मुकाबला किस प्रकार सत्याग्रह और

असहयोग के तरीके से करके सफलता प्राप्त की जा सकती है। लेकिन वे इसमें तब तक सफल नहीं हो सकते,जब तक कि वे अपने जीवन से हर प्रकार की हिंसा का भाव निकाल बाहर नहीं करते। एवं स्वयंसेवकों को इस बात की शिक्षा नहीं प्रदान करते कि वे अहिंसा से हिंसा का मुकाबला करने का कौशल सीख लें। यही एक तरीका है,जिससे शंकाशील व्यक्तियों को अहिंसात्मक प्रति-रक्षा की शक्यता और सामर्थ्य का बोध कराया जा सकता है।

चूंकि अहिंसा में निष्ठा रखनेवाले यह नहीं चाहते कि विविध राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को कायम रखने के लिए सैन्य-शक्ति पर भरोसा रखें, अतएव वे स्वयं देश में सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिए पुलिस अथवा सैन्य-शक्ति पर निर्भर न रहेंगे। अतः अपराधों या अव्यवस्था की अवस्था में वे पुलिस की सहायता की अपेक्षा न करके स्थिति को स्वयं अहिंसात्मक तरीके से सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। वे इस बात की कोशिश करेंगे कि स्वयंसेवकों की स्थायी टुकड़ी—शान्ति-सेना—संघटित कर ली जाय, जो किसी भी क्षेत्र में उपद्रव होने पर उसका शमन कर सके। शान्ति-सेना के ये सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों में हिंसात्मक उपद्रवों का सामना करने की विधि सीखकर धीरे-धीरे समाज के सभी सदस्यों को यह बता सकेंगे कि सशस्त्र आक्रमण होने पर अहिंसात्मक असहयोग एवं सत्याग्रह की अन्य विधियों से किस प्रकार उसका सामना किया जा सकता है।

सरकार तथा विविध राजनीतिक दल भी ऐसे वातावरण की सृष्टि करने में सहायक हो सकते हैं, जिससे निरस्त्रीकरण की भावना उत्पन्न हो तथा अहिंसात्मक प्रतिरक्षा की बात लोगों के

मन में जमें। राजनीतिक दलों और संघटनों को चाहिए कि वे एकमत से यह निश्चय कर लें कि ऐसे विरोध-प्रदर्शनों का वे त्याग कर देंगे, जिनकी परिणति प्रदर्शनकारियों द्वारा हिंसा के अवलंबन में होती है और जिसके फलस्वरूप सरकार को शस्त्र-बल का उपयोग करना पड़ता है। सरकार को भी चाहिए कि देश में उपद्रव होने पर उसका दमन सैन्य-शक्ति से करने की नीति का वह त्याग कर दे तथा लोगों में उत्पन्न असन्तोष एवं द्वेष-भाव के निवारण पर अपना ध्यान केन्द्रित करके वह लोगों को शिक्षित करने का प्रयत्न करे, जिसमें जनता का मत ठीक बने। यदि सरकार यह देखे कि समझाने-बुझाने और समझौते के सभी मार्ग विफल हो चुके हैं और हिंसा रोकने के लिए पुलिस की सहायता लेना अनिवार्य हो गया है, तो उसे चाहिए कि वह पुलिस-शक्ति का कम-से-कम प्रयोग करे तथा इस बात के लिए तैयार रहे कि निष्पक्ष अदालती जाँच होने की अवस्था में वह उस जाँच-समिति को सन्तुष्ट कर सके कि हिंसा रोकने के लिए उसका कदम अनिवार्य था तथा पुलिस-शक्ति का कम-से-कम प्रयोग किया गया है। ◆◆◆

: १३ :

कर-पद्धति

शासन के लिए धन प्राप्त करने के साधनों और पद्धतियों तथा उनको किस प्रकार खर्च किया जाय, इसमें भी सर्वोदय-समाज में बड़ा अन्तर हो जायगा। आज की हमारी कर-पद्धति पिछड़ी हुई और अन्यायपूर्ण है। पहले तो कर बहुत अधिक हैं।

उनमें से बहुत-से अप्रत्यक्ष हैं और इनका भार गरीबों पर उचित से अधिक पड़ता है। यद्यपि धनवानों पर भी कर हैं और धन-राशि की दृष्टि से देखा जाय, तो वे भी काफी देते हैं। परन्तु अगर हिसाब लगाया जाय कि अपनी आय का कितना हिस्सा वे शासकीय कोष में देते हैं, तो ज्ञात होगा कि गरीबों के मुकाबले में वे कम ही देते हैं। गरीबों से तो अप्रत्यक्ष करों के रूप में इतना ले लिया जाता है कि उन बेचारों को पता भी नहीं लगता। यह सब उस समाज-व्यवस्था में अनिवार्य है, जो अपनी दोषपूर्ण खेती और उद्योग-पद्धतियों की बुराइयों को जड़ से मिटाने का प्रयत्न नहीं करती। फिर आज की हमारी केंद्रित शासन-पद्धति ऐसी है कि उसमें ऊपर के लोगों को बहुत भारी-भारी वेतन हैं और उसने आमदनी के तमाम अच्छे-अच्छे साधनों को अपने हाथों में रख छोड़ा है और बुनियादी तथा प्रादेशिक इकाइयों के लिए जो साधन छोड़ रखे हैं, वे बिलकुल नाकाफी हैं। इस कारण इन सबको केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है, जिसका जनता से सीधा संपर्क नहीं होता और इस कारण जो ठीक-ठीक तरह से समझ नहीं पाता कि किन-किन कामों के लिए खर्च करना यहाँ अति आवश्यक है। खर्च की मद तय करते समय केन्द्र जरूर चाहता है कि वह जनता के लाभार्थ अधिक-से-अधिक खर्च करे। परन्तु चूँकि उससे जनता का सीधा सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वह केवल जबानी सिद्धान्त और इच्छा तक रह जाता है। और खर्च ठीक तरह से जनता के लाभ के लिए नहीं हो पाता। वह एक धोखा और मनमानी बन जाता है। सर्वोदय-व्यवस्था में इसे बदलना ही होगा।

सर्वोदय-व्यवस्था के अन्तर्गत मिलनेवाली उन रकमों को (amounts of contribution), जिन्हें आजकल कर कहते हैं, लगाने और वसूल करने का अधिकार बुनियादी इकाइयों—जैसे, गाँव-समाज या नगरों में नगरपालिका-समितियों और प्रादेशिक सरकारों को प्राप्त रहेगा। इससे छोटी इकाइयों को आय के बारे में केन्द्र का मुँह नहीं ताकना होगा। उन्हें सीधे और खासी आय अपने क्षेत्र से मिल जायगी और वे अपने क्षेत्र की जनता की जरूरतों को पूरी करने के लिए आसानी से आवश्यक योजनाओं को अपने हाथ में ले सकेंगी। हाँ, इस आय का एक हिस्सा ये इकाइयाँ राज्य-सरकार और केन्द्र को भी जरूर देंगी। इस हिस्से के अलावा केन्द्र और राज्य के पास आय के अन्य प्रत्यक्ष साधन भी होंगे ही।

इकाइयों द्वारा लगाये गये कर नकद या उपज के रूप में भी अदा किये जा सकेंगे। जहाँ संभव हो और श्रम बैंक होंगे, वहाँ श्रम के रूप में भी दिये जा सकेंगे।

अप्रत्यक्ष करों की पद्धति प्रगतिसूचक नहीं। उसका भार गरीबों पर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक पड़ता है। उनकी बुनियाद में एक यह विचार भी होता है कि जनता को सीधे कर अखरते हैं और इन्हें देने में वह आनाकानी करती है। इसलिए उस पर इस प्रकार कर लगाना चाहिए कि उसे पता भी न लगे कि वह कर दे रही है। इसलिए सर्वोदय-समाज में सारे अप्रत्यक्ष करों को हटा दिया जायगा और एक निश्चित रकम से ऊपर की आयवालों से सीधे भेंट की रकम वसूल की जायगी। यह सीधा आय-कर सब प्रकार की (खेती की और अन्य भी)

आमदनी पर लगाया जायगा। और इसमें आमदनियों की श्रेणियाँ बाँधकर ज्यों-ज्यों आमदनी बढ़ती जायगी, बढ़ी हुई आय पर अधिकाधिक प्रतिशत कर वसूल किया जायगा, ताकि हर मनुष्य पर उसकी आय के अनुपात में ही कर का बोझ पड़े। जिनकी आय इस न्यूनतम मर्यादा से भी कम हो, वे भी गाँव-सभा को अपना हिस्सा अवश्य दें। परन्तु यह ऐच्छिक और प्रतीक के रूप में होगा।

यदि किसी व्यक्ति की आय के साधन अनेक इकाइयों या क्षेत्रों में बिखरे हों, तो केन्द्रीय प्रशासन के लिए कम-से-कम संक्रमण-काल में यह आवश्यक होगा कि वह ऐसे लोगों से प्राप्त होनेवाले कर का तखमीना करने और उसे सीधे वसूल करने का उत्तरदायित्व स्वयं अपने सिर ले। इस कार्य के लिए तथा अनेक स्तरों पर प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि प्रशासन की अनेक इकाइयों को कार्य-संचालन के उद्देश्य से दी जानेवाली रकम का कोटा निर्धारित कर दिया जाय।

आमदनी पर लगाये गये इस कर से ठीक आय तभी होगी, जब कर वसूल करने योग्य आय से कम आमदनीवाले परिवारों की संख्या काफी घट जायगी। फिर संक्रमण-काल में, जब कि प्रादेशिक अधिकारियों को क्षेत्र की उद्योग-व्यवस्था का पुनः-संगठन करने के लिए बड़ी-बड़ी रकमों में पूंजी जुटानी पड़ेगी, तब केवल इस मद से आवश्यक मात्रा में आय जुटाना मुश्किल होगा। यह कमी सम्पत्तिदान के रूप में प्राप्त होनेवाली रकम से पूरी की जायगी। या जरूरत हुई, तो संक्रमण-काल में कुछ अप्रत्यक्ष कर भी लगाये जा सकते हैं। परन्तु यह करते हुए इस

बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा कि इन करों का भार केवल धनवानों पर ही पड़े। संक्रमण-काल में बुनियादी इकाइयों, राज्य और केन्द्र द्वारा शासकीय कोष में नीचे लिखी मदों से कर वसूल किये जा सकते हैं:

गाँव-सभाएँ—

१. सीधा आय-कर
२. असली जायदाद पर कर
३. विलास की चीजों पर कर
४. सिंचाई की जमीन पर कर
५. केन्द्रित उद्योगों द्वारा बनी चीजों पर ऑक्ट्रॉय
६. उत्तराधिकार पर कर

राज्य—

१. आय-कर का हिस्सा
२. मुल्की शासन से आय
३. प्रदेश में संगठित सार्वजनिक सेवा-संस्थानों से और राज्य के कामों से
४. वनों की उपज से

केन्द्र—

१. आय-कर का हिस्सा
२. सार्वजनिक सेवा-कार्यों से आय
३. केन्द्र द्वारा चलाये जानेवाले उद्योगों से
४. राज्य द्वारा चालित व्यापार-संस्थानों से
५. शासकीय आय
६. आयात और निर्यात-कर
७. खनिज द्रव्य और वन की उपज से

◆◆◆

: १४ :

योजना का खर्च कहाँ से आयेगा ?

जैसा कि इस योजना के प्रारम्भिक हिस्सों में बताया गया है, यह सर्वोदय-योजना दूसरी योजनाओं से अनेक बातों में भिन्न होगी। इसके लक्ष्य भिन्न होंगे, काम भिन्न होंगे, दृष्टिकोण भिन्न होगा और योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने के तरीके भी भिन्न होंगे। यह योजना ऐसी नहीं कि जिसे राष्ट्र की राजधानी में बैठकर दस-पाँच अधिकारी बना लें और मुख्यतः शासन-यंत्र के द्वारा और जहाँ संभव हो, जनता का सहयोग लेकर कार्यान्वित कर लें।

हमारी योजना गाँवों में बनेगी और इसे गाँव-सभाएँ बनायेंगी। फिर इन ग्राम-योजनाओं को प्रदेश और राष्ट्रीय आधार पर समन्वित किया जायगा। इसलिए जब तक गाँव-सभाओं द्वारा बनकर ये योजनाएँ समन्वय करनेवाले अधिकारियों द्वारा समन्वित नहीं कर ली जातीं, इनमें कितना खर्च होगा, इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

यह कहा जा सकता है कि पिछले अध्यायों में जिस नियोजन को कार्यान्वित करने की कल्पना की गयी है, उसकी पूर्ति के लिए नकदी के रूप में आवश्यक पूंजी जितनी लगेगी, उसकी अपेक्षा कम ही पूंजी में निश्चित लक्ष्य की पूर्ति भारी और केन्द्रीकृत उद्योगों के माध्यम से हो सकती है। यह जरूर है कि सर्वोदय-संयोजन के लिए अपेक्षाकृत अधिक पूंजीगत सामग्री और सेवाएँ, जिसमें श्रम आदि के रूप में प्राप्त होने-

वाली सेवाएँ भी शामिल हैं, आवश्यक होंगी। तभी योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सकती है। जैसा कि अब तक बार-बार बताया गया है, सर्वोदय-योजना में पूँजी जुटाने और लगाने पर नहीं, मनुष्यों को काम देने पर अधिक ध्यान दिया जायगा। फिर कार्यान्वित करने के लिए इस बोझीले, कीमती और जटिल यन्त्र की जरूरत नहीं होगी। इसके बनाने और अमल में यह हर कदम पर स्थानीय लोगों के उत्साह और प्रयास पर निर्भर रहेगी।

यद्यपि यह बताना कठिन है कि इस पर कुल कितना धन लगेगा, तथापि यह जरूर बताया जा सकता है कि वह प्राप्त कैसे किया जा सकता है। वह इस प्रकार है : (१) करोंवाले अध्याय में बताये अनुसार करों से मिलनेवाली आय से, (२) बचत का उपयोग करके, (३) आज के खानगी उद्योग-कारखानों में लगी पूँजी, यन्त्र-सामग्री और अन्य साधनों की मदद से, (४) श्रमदान, सम्पत्तिदान, सूतांजलि और अन्य प्रकार के स्वेच्छापूर्वक दिये गये चन्दों के द्वारा, (५) दूसरे देशों से शुद्ध हेतुपूर्वक और बिना किसी शर्त के दिये जानेवाले यन्त्रोपकरण, पूँजी और शास्त्रीय ज्ञान आदि से और घाटा उठाकर भी कि जिसकी पूर्ति हम उत्पादन द्वारा कर सकें।

इतने पर भी अगर हम योजना को निश्चित समय में कार्यान्वित करने के लिए काफी साधन नहीं जुटा पायें, तो हम योजना की अवधि को बढ़ा देंगे। परन्तु निश्चित समय में योजना के निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए योजना के सिद्धान्तों की हत्या हम कभी नहीं करेंगे।

◆◆◆

: १५ :

योजना का अमल और उसका यंत्र

चूंकि योजना का निर्माण और अमल भी ऊपर केन्द्र के द्वारा नहीं, ठेठ नीचे से होगा, इसलिए उसे कार्यान्वित करने का तरीका और साधन भी उसके मूलभूत सिद्धान्तों के अनुरूप पूरी तरह कारगर और जनतंत्री ही होंगे। इसलिए इस जिम्मेवारी को पूरी करने के लिए जितनी सत्ता और अनुकूलताओं की जरूरत होगी, वे सब बुनियादी इकाइयों को दे देनी होंगी। इस तरह इस योजना में सत्ता का विकेन्द्रीकरण श्रीगणेश में ही शुरू हो जाता है।

यह बताया जा चुका है कि स्थानीय समाज स्वयं संयोजन की रूपरेखा स्थिर करने और उसे कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार होगा। गाँवों में यह काम पंचायतों और बहुधंधी सहकारी समितियों के माध्यम से गाँव-समाज करेगा और नगरों में नगरपालिकाओं तथा उसकी बहुधंधी सहकारी समितियों के माध्यम से वयस्क लोग करेंगे। पंचायतों या नगरपालिका-समितियों की यह भी जिम्मेदारी होगी कि वे अपने क्षेत्र में निवास करनेवाले लोगों के जान-माल की रक्षा करें, समाजविरोधी तत्त्वों से निपटें, शिक्षा, स्वास्थ्य-चिकित्सा और मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था करें तथा समाज के सामान्य जीवन को व्यवस्थित रखें। इन समितियों के चुनाव गाँवों अथवा नगरों के वयस्क लोग करेंगे। इसके निर्णय प्रायः
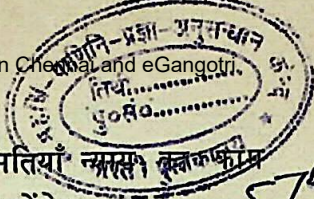
सर्वसम्मत हुआ करेंगे। जब ये समितियाँ न्यास कामकाज करेंगी, तो इनके निर्णय सर्वसम्मत ही होंगे।

शिक्षा और मनोरंजन का प्रबन्ध करनेवाली संस्थाएँ गाँव में समाज के सांस्कृतिक जीवन का संगठन करेंगी।

आर्थिक प्रवृत्तियों का संगठन-संचालन बहुकाजी सहकार समितियाँ करेंगी। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के लिए उसके अलग-अलग भाग होंगे। योजना को सफल बनाने के लिए शास्त्रीय सलाह या विशेष प्रकार के कौशल की जरूरत होगी, तो उसका प्रबन्ध भी वह कर दगी। उसमें नीचे लिखे विभाग होंगे :

(१) संपूर्ण संयोजन।

(२) व्यापार।

(३) उद्योग—इसके अन्दर कच्चा माल प्राप्त करना, प्रबन्ध, उत्पादन और स्वतंत्र कारीगरोंवाले तथा सहयोग समितियोंवाले क्षेत्र में बनाये जानेवाले माल के बेचने का प्रबन्ध शामिल होंगे।

(४) खेती और उद्योगों के लिए पूँजी का प्रबन्ध करना।

(५) बैंक (जहाँ-जहाँ संभव हो, वहाँ श्रम बैंकों का भी प्रबन्ध करना)।

(६) बीमा।

प्रत्येक प्रदेश या राज्य की बहुकाजी सहकारी समितियों के योजनासम्बन्धी प्रवृत्तियों का समन्वय-संचालन प्रदेश या राज्य के योजना-आयोग द्वारा होगा।

राज्यों के योजना-आयोगों के प्रतिनिधियों से एक राष्ट्रीय योजना-आयोग बनेगा। केन्द्रीय योजना-आयोग राष्ट्र की जरूरतों

और साधनों का पता लगायेगा। वह योजना के सिद्धान्त कायम करेगा और प्रदेशों तथा राज्यों के मार्ग-दर्शन के लिए एक मोटी-सी रूपरेखा बना देगा। और राष्ट्रीय स्तर पर इन सबकी योजनाओं का समन्वय और एकीकरण करेगा।
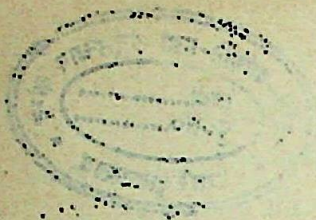
सर्वोदय-साहित्य

	रु० न० पैसा
गीता प्रवचन	१— ०
शिक्षण-विचार	१—५०
कार्यकर्ता पाथेय	०—५०
भूदान-गंगा (पाँच खंडों में) प्रत्येक	१—५०
जनक्रांति की दिशा में	०—२५
गाँव-गाँव म स्वराज्य	[illegible]
सर्वोदय के आधार	[illegible]
नयी तालीम	०—५०
सम्पत्तिदान-यज्ञ	०—५०
श्रमदान	०—२५
भूदान यज्ञ : क्या और क्यों ?	१— ०
ग्रामदान	(प्रेस में)
छात्रों के बीच	०—३१
पावन-प्रसंग	०—५०
राजनीति से लोकनीति की ओर	०—५०
सामाजिक क्रांति और भूदान	०—३१
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	०—५०
गाँव का गोकुल	०—२५
व्याज-बट्टा	०—२५
सर्वोदय-दर्शन	३— ०
सर्वोदय पद-यात्रा	१— ०
भूदान-गंगोत्री	२—५०
गो-सेवा की विचारधारा	०—५०
नक्षत्रों की छाया में	१—५०
शासनमुक्त समाज की ओर	०—५०
Planning and Sarvodaya	0—50
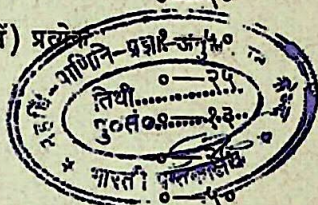
सर्वोदय-संयोजन का

सरकारी योजनाएँ समाज को के
औद्योगीकरण की ओर ले जानेवाली
करण और सर्वोदय में विश्वास र
आवश्यक हो गया है कि वे भी अब
विचार समाज के समक्ष उपस्थित कर दें और
के पक्ष में लोकमत को शिक्षित और संघटित करने में लग जायँ।

'सर्वोदय' आज के समाज की रहन-सहन और सारी दृष्टि में क्रान्ति कर देना चाहता है। वह एक नये अहिंसक समाज का निर्माण करना चाहता है। अतः उसके पास समाज का नये सिरे से निर्माण करनेवाली योजना का होना आवश्यक है।

प्रस्तुत 'सर्वोदय-संयोजन' का उद्देश्य यही है कि सर्वोदय-नियोजन के आधारभूत सिद्धान्त क्या हों और सर्वोदयी समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए कौन-कौन से उपाय और कार्यक्रम हो सकते हैं तथा समाज को किन-किन अवस्थाओं में से इसके लिए गुजरना होगा।

एक रुपया

भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी